प्रताप-पीयूष

स्वर्गीय पंडित प्रतापनारायण मिश्र

के

उत्तमोत्तम लेखों तथा कविताओं

का

संग्रह।

संकलनकर्त्ता

रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०,

प्रोफ़ेसर, जसवन्त कालेज, जोधपुर।

प्रकाशक

सिटी बुक हाउस, कानपुर।

संस्करण] १९३३ [मूल्य १॥)

To know, to esteem, to feel and then to part
Make life's tale to many a feeling heart.

S. T. Coleridge.

तन्त्री, नाद, कवित्त, रस, सरस राग रति रंग ।
अनबूड़े बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग ॥

(बिहारी)

Our many thoughts and deeds, our life and love,
Our happiness, and all that we have been,
Immortally must live and burn and move,
When we shall be no more..........................

Shelley.

Printed by S. N. Tandon at The City Press, Cawnpore.

विषय-सूची

पृष्ठ

कविता

प्रस्तावना

स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र

प्रताप-पीयूष

प्रस्तावना

इधर कुछ दिनों से हिंदीवालों का ध्यान पुराने लेखकों को पुनरुज्जीवित करने की ओर गया है। हिंदी-प्रेमी इस बात का अनुभव करने लग गये हैं कि हम अपने साहित्यसेवियों का उतना सम्मान करना तथा उनकी कृतियों का उतना मनन-पूर्वक अध्ययन करना अभी तक नहीं सीखे हैं जितना कि अन्य देशवाले अपने लेखकों के लिए करते हैं। इसी उदासीनता अथवा मानसिक शैथिल्य के कारण आजकल के कितने ही वाचकगणों की यह दशा हो गई है कि यदि उनसे पूछा जाय कि हिंदी के प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखक कौन कौन से हैं? तो वे तुलसी, सूर, केशव, भूषण, हरिश्चंद्र, अयोध्यासिंह, श्रीधर पाठक, रत्नाकर आदि के नाम तो तुरंत बड़े गौरव से लेने लगेंगे। पर, यदि इनमें से किसी एक के विषय में कोई मार्मिक प्रश्न उठाया जाय तो वे अवाक् रह जावेंगे और अंत में उनके पल्लवग्राहि पांडित्य की क़लई यहाँ तक खुलेगी कि

यह मालूम हो जायेगा कि बहुतेरों ने तो तुलसीकृत रामायण तक एक बार भी आदि से अंत तक नहीं पढ़ी, यद्यपि तुलसीदास का नाम लेते ही वे बड़े आवेश में भर जाते हैं। औरों की तो क्या कथा है!

पंडित प्रतापनारायण मिश्र की भी कुछ कुछ यही दशा हुई है। उनका वास्तविक साहित्यिक महत्त्व तो क़रीब क़रीब विस्मृति में विलीन हो गया है। उनकी जीवन-संबंधी कुछ सच्ची घटनायें तथा बहुत सी मनगढ़ंत बातें अलबत्ता बहुत से लोगों को याद हैं। फल यह हुआ है कि उनकी रचनाओं के अप्रकाशित होने से तथा उन पर किसी प्रामाणिक आलोचनात्मक लेख के अभाव में उनका साहित्यिक अस्तित्व तक लुप्त हो गया है। यही नहीं बड़े बड़े हिंदी विद्वान् तक यह नहीं समझ पाये हैं कि आधुनिक साहित्य से उनका क्या संबंध है।

इन्हीं कतिपय निर्मूल धारणाओं को दूर करने के लिए तथा मिश्र जी का साहित्यिक महत्त्व अविकल रूप से अंकित करने के लिए प्रस्तुत संग्रह तैयार किया गया है।

वंश-विवरण तथा प्रारंभिक जीवन

पंडित प्रतापनारायण उन लेखकों में से हैं जिनका जीवन-वृत्तांत उतना ही रोचक होता है जितनी कि उनकी कृतियाँ। आगे चल कर उनके लेखों के जिन गुणों का उल्लेख किया जायगा उनके तद्रूप उनके चरित्र में सभी बातें पाई जाती हैं।

उनका जन्म संवत् १९१३ में पंडित संकठाप्रसाद जी

के घर में हुआ था। उनके पिता जी उन्नाव ज़िले के बैजेगाँव के रहने वाले थे। वहाँ से वे कानपुर में आ बसे थे। कहते हैं कि वे अच्छे ज्यौतिषी थे। इसी वृत्ति से उन्होंने काफ़ी यश तथा धन कमाया था। कानपुर के रामगंज नाम के मुहल्ले में जिस जगह संकठाप्रसाद जी बैठा करते थे वह मुझे दिखाई गई थी। उनका मकान नौघड़ा में अबतक मौजूद है। आसपास के कई मकान उन्हीं के अधिकार में थे। लगभग ७ वर्ष की बात है मैं उनके मकान को देखने तथा प्रतापनारायण जी की धर्म-पत्नी के दर्शन करने को गया था। उनके चरणस्पर्श करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ था।

बालक प्रतापनारायण बड़ा चपल तथा मस्त-तबियत था। पिताजी ने उन्हें अपनी ही वृत्ति में डालना चाहा, पर उनकी तबियत जन्म-पत्र बनाने तथा ग्रह-नक्षत्र की गणना करने में कब लगने को थी! अतएव अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए वे स्कूल में भरती कराये गये। वहाँ भी जी न लगा। तब वे उस मिशन स्कूल में भरती हुए जो किसी समय नयेगंज के पास था, पर जो अब टूट गया है। वहाँ भी बहुत दिन तक वे नहीं टिके और आख़िरकार सन् १८७५ के आस-पास उन्होंने पढ़ना छोड़ ही दिया।

असल में प्रतापनारायण उन पुरुषों में से थे जिनके विद्या-ध्ययन के साधन साधारण लोगों के साधनों से बिलकुल ही भिन्न होते हैं। और लोग स्कूलों और कालेजों में कठिन परिश्रम

करके जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक मनोरंजक तथा उपयोगी ज्ञान प्रतापनारायण सरीखे आदमी यों ही अनेक प्रकार के लोगों से मिलजुल कर तथा सांसारिक अनुभव को बढ़ाते हुए प्राप्त कर लेते हैं।

उनके लेखों को एक बार पढ़ जाइए तो आपको स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि पण्डित प्रतापनारायण यथावत् शिक्षा न पाये होने पर भी कितने बहुज्ञ थे और उनकी दृष्टि कैसी पैनी थी। हिंदी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत, बँगला, अंग्रेज़ी आदि बहुत सी भाषाओं में उनकी ख़ासी गति जान पड़ती है, क्योंकि न जाने कहाँ कहाँ की बातें उन्हें लिखते समय याद आ जाती हैं। सूझ तो उनकी अद्वितीय थी। इन सब के नमूने आगे अन्य स्थल पर दिये जावेंगे।

प्रतापनारायण का चरित्र तथा उनकी जीवन-चर्या

सनातन काल से जनसाधारण की यह धारणा चली आई है कि साहित्य-सेवी एक विचित्र प्रकार के जीव होते हैं, क्योंकि सांसारिक धंधों में उनकी विशेष रुचि नहीं होती और न जीवन की समस्याओं को समझने के लिए उनमें योग्यता ही होती है। इसके सिवाय उनका जीवन बड़ा शुष्क अथवा नीरस होता है और उनकी बातचीत, क्या व्यवहार सभी से किताबों की गंध निकला करती है। पर, इसके विपरीत पं०

प्रतापनारायण मिश्र का चरित्र तथा उनका जीवन बड़ा ही मनोरंजक है। उनकी रुचि निरे पुस्तक-प्रेम की ओर कभी नहीं रही। आरंभ से ही वे आनंदमय जीवन बिताने के पक्ष में थे। उनके विषय में अभी तक जो बहुत सी रोचक बातें प्रचलित हैं और उनके मित्रों से जो कुछ उनके संबंध में ज्ञात हुआ है उसी से पता लगता है कि वे कैसे ज़िंदादिल आदमी थे।

अपने समय में कानपुर के सार्वजनिक जीवन को सजीव रखने में तथा जनता को सदैव जाग्रत रखने में प्रतापनारायण का प्रमुख स्थान था। शहर के दैनिक जीवन में एक ख़ास तरह की स्फूर्ति रखने में उनकी लावनीबाज़ी का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। यह अब तक प्रसिद्ध है कि कानपुर के कुछ ख़ास चौरस्तों पर ज़ुल्फ़ें रखाये, बाँकी टोपी सिर पर दिये हुए, लंबी नाकवाला छोटे क़द का एक रसिक-हृदय सुपरिचित पुरुष उच्च स्वर से लावनी गाते हुए बहुधा देख पड़ता था। उस समय लावनीवालों का अच्छा जमघट रहता था और उन लोगों में समय समय पर आपस में तात्कालिक लावनी-रचना करने की प्रतिस्पर्द्धा तक हुआ करती थी। पंडित प्रतापनारायण का अच्छा ख़ासा नाम था। वे एक प्रकार के लावनी-आचार्य समझे जाते थे।

वैसे भी उनकी वेश-भूषा काफ़ी हास्योत्पादक थी। तिस पर उनकी बातचीत और भी मनोविनोदक थी।

एक दफ़े की बात है कि चौकबाज़ार के एक बड़े कपड़े

के दुकानदार बाबू देवीप्रसाद खत्री को मिश्र जी ने होली के दिनों में कबीरें सुना कर बुरी तरह से छेड़ दिया। वे बहुत क्रुद्ध हुए। पर ज्यों ज्यों देवीप्रसाद जी का क्रोध उमड़ता जाता था, त्यों त्यों मिश्र जी की कबीरें और भी ज़ोरदार होती जाती थीं। मामला यहाँ तक बढ़ा कि देवीप्रसाद जी ने प्रतापनारायण जी के मित्र कोतवाल अलीहसन जी से शिकायत की। बस, फिर क्या था, दूसरे ही दिन मिश्र जी देवीप्रसाद जी से माफ़ी माँगने उनकी दूकान पर पहुँचे। माफ़ी माँगते समय उन्होंने पूरा स्वाँग रचा। वे इतने विनम्र हो गये कि देवीप्रसाद जी हँस पड़े और क्षण भर में उनका क्रोध उतर गया।

उन दिनों कानपुर में ईसाइयों ने बड़ी धूम मचा रक्खी थी। जगह जगह उनके प्रचारक लोग लेकचरबाज़ी करते तथा अपने धर्म-ग्रंथ बाँटते देख पड़ते थे। उनसे प्रतापनारायण जी की अक्सर टक्करें हुआ करती थीं और इन शास्त्रार्थों में वे वाक्प्रगल्भता तथा मखौलपने का इतना प्रदर्शन करते थे कि ईसाइयों को शर्माना पड़ता था और एकत्र श्रोतागण का पूरा मनोरंजन होता था।

उनकी दिल्लगीबाज़ी के बहुत से उदाहरण लोगों को याद हैं। मेरे पिता जी ने भी एक आपबीती बात मुझे बतलाई थी। वे लगभग मिश्र जी के समवयस्क थे और उनसे उनकी घनिष्ठता भी थी। जब कभी कानपुर जाते तो प्रतापनारायण जी से अवश्य मिला करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि मेरे

पिता जी उनके यहाँ गये हुए थे। अन्य बातचीत होने के बाद उन्होंने अपने नौकर से बाज़ार जाकर कुछ जलेबियाँ मोल लाने को कहा। जब वे आगईं और आदेशानुसार वे उन्हें मेरे पिता जी के सामने जल-पान के लिए रखने लगा तो प्रताप-नारायण जी उसके ऊपर बनावटी झुँझलाहट दिखाते हुए बोले— 'तू जानता नहीं कि तिवारी जी अन्न की मिठाई नहीं खाते'। पर असली रहस्य तो खुल ही गया। ऐसे न जाने कितने मज़ाक़ वे नित्य किया करते थे।

कानपुर में उन्होंने अपनी एक नाट्यसमिति खोल रक्खी थी। वह उस जगह थी जहाँ आज-कल सिटी टेलीग्रैफ़ आफ़िस है। उनके साथ चौबीस घंटे बैठने-उठनेवालों में तथा नाट्य-समिति के खेलों में पार्ट लेनेवाले कई सज्जन अब भी हैं। शहर के बड़े रईस स्वर्गीय बाबू बिहारीलाल, स्वर्गीय राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' आदि भी उन्हीं में थे।

नाटक के खेलों में प्रतापनारायण जी स्त्री-पार्ट बहुधा लिया करते थे और उनकी अभिनय-चतुरता पर बड़ी करताल-ध्वनि होती थी। इन खेलों में भाग लेने के कारण उनकी दाढ़ी-मूछ के नये नये संस्कार अक्सर ही हुआ करते थे।

पर इन घटनाओं से यह न समझना चाहिए कि प्रताप-नारायण जी केवल भँड़ैती-प्रवीण एक साधारण मसखरे थे। उनकी इस कोटि की परिहासप्रियता उनकी सर्वतोमुखीप्रकृति का एक अंगमात्र है। इसी के आधार पर उनके चरित्र पर

फ़ैसला करना अनुचित है। यदि वास्तव में वे फक्कड़मिजाज़ी तथा साधारण कोटि के लिक्खाड़ थे तो यह प्रश्न हो सकता है कि कांग्रेस के जन्मदाता ह्यूम साहब, बंगाल के प्रसिद्ध देश-सेवी विद्वान् ईश्वरचंद्र जी विद्यासागर, श्रीमान् मालवीय जी, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि दिग्गज पुरुष उनके प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम तथा श्रद्धा क्यों रखते थे? ईश्वरचंद्र जी विद्यासागर एक बार प्रतापनारायण जी मिश्र के घर पर मिलने आये थे। कहते हैं कि उन दोनों में काफ़ी देर तक बँगला में बड़े प्रेम से वार्तालाप हुआ था। सब से रोचक बात इस प्रसंग में कही जाती है कि विद्यासागर जी को बड़ी आवभगत से लेने के बाद मिश्र जी ने उनके जल-पान के लिए दो पैसे के पेड़े मँगाये थे। इस बात पर जितना ही सोचते हैं उतनी ही हँसी आती है।

कहते हैं इलाहाबाद काँग्रेस में भी एक इसी प्रकार की घटना हुई थी। उस साल प्रतापनारायण जी कानपुर शहर के प्रतिनिधि बन कर गये थे। एक दिन वे जब अपने तंबू के बाहर खड़े थे ह्यूम साहब उधर से निकले। देखते ही मिश्र जी ने उन्हें नमस्कार किया। ह्यूम साहब ने उन्हें सप्रेम छाती से लगा लिया और कुशल-समाचार पूछा।

बतलाइए कि ह्यूम साहब ऐसे बड़े आदमी जिससे ऐसे प्रेम से मिलें तथा विद्यासागर जैसे विद्वान् जिससे मिलने उसके घर पर आवें और उसके 'दो पेड़ों' का जल-पान प्रेमपूर्वक स्वीकार करें, वह क्या कोरा मसखरा हो सकता है?

वास्तव में प्रतापनारायण जी के चरित्र में कई अनुपम गुण थे जिनके कारण उनके स्नेहियों तथा प्रशंसकों का समुदाय उनके जीवनकाल में काफ़ी बड़ा था और अब भी है।

अभी कहा जा चुका है कि वे बड़े लहरी आदमी थे। किसी प्रकार के धार्मिक अथवा सामाजिक बंधन से बँधना उन्हें असह्य था, क्योंकि ऐसी दशा में उन्हें अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रप्रियता तथा अलबेलेपन को पूर्णरूप से प्रस्फुटित करने में बाधा पड़ती थी। यही कारण है कि बड़ी से बड़ी चिर-समादृत संस्थाओं पर तथा घनिष्ट से घनिष्ट परिचित सज्जनों पर कभी कभी वे बिलकुल निर्भीक हो कर तीव्रकटाक्ष करने में हिचकते न थे। स्वयं पाखंड तथा कोरी दुनियादारी के घोर विरोधी होकर भला वे व्यर्थ के ढकोसलों का कैसे समर्थन कर सकते थे।

उन्होंने अनेक स्थलों पर स्वयं अपने को प्रेमधर्म का अनुयायी बताया है और 'प्रेम एव परो धर्मः' के मंत्र का प्रचार किया है। प्रेमी लोग समदर्शी होते हैं। इसी लिए प्रतापनारायण जी बड़े निर्भीक तथा उदारहृदय थे।

इसकी पुष्टि में कि वे बड़े उदारहृदय और स्पष्टवादी थे कई उदाहरण दिये जाते हैं।

वे ख़ुद ऊँचे घर के कान्यकुब्ज थे और कुलाभिमान भी रखते थे। पर 'ब्राह्मण' के एक अंक में कनौजियों की निरक्षरता तथा उनके जातीय ताटस्थ्य का उन्होंने अच्छा चुटीला मज़ाक़ किया है। 'ककाराष्टक' नामक कविता में वे लिखते हैं:—

"करुणानिधि-पद-विमुख देव-देवी बहु मानत।
कन्या अरु कामिनि-सराप लहि पाप न जानत॥
केवल दायज लेत और उद्योग न भावत।
करि बकरा-भच्छन निज पेटहिं कबर बनावत॥
का खा गा घा हू बिन पढ़े तिरवेदी पदवी धरन।
कलह-प्रिय जयति कनौजिया, भारत कहँ गारत करन॥"

और भी सुनिए:—

"हमारे रौरे जी की अक्किल पर ऐसे पाथर पड़े हैं कि दुनिया भर की चाहै लातैं खाय आवैं पर अपने को अपना समझैं तो शायद पाप हो। धाकर तो धाकर ही हैं। अच्छे 'झकझकौआ' षट्कुल का भी पत्त करना नहीं सीखे।"

'फक्कड़ और भंगड़' शीर्षक एक कथोपकथन 'ब्राह्मण' के किसी अंक में निकला था। उसमें उन्होंने अपने समीपी संबंधी पंडित प्रयागनारायण जी तिवारी को जिनका बनवाया हुआ प्रसिद्ध मंदिर कानपुर में है, बड़ी खरी-खोटी बातें सुनाई हैं।

इसके सिवाय आर्यसमाज के अनुयायियों पर तथा उसके कुछ सिद्धांतों पर भी उन्होंने चुभती हुई फबतियाँ कसी हैं, यद्यपि यथार्थ में वे स्वामी दयानंद और उनके चलाये हुए मत के बड़े प्रशंसक थे।

'कानपुर-माहात्म्य' नाम की छोटी सी रचना में हिंदुओं की पारस्परिक फूट तथा कानपुर के निवासियों के 'कँचढिल्लापन' का जिकर करते समय वे अधिकांश आर्यसमाज के परिपोषकों की

विद्याहीनता और वाचालता का यों चित्र खींचते हैं :—

"स्वामी दयानँद मनै बिसूरैं हम सब करिबे देश-सुधार।
मूड़ मुड़ाओ उन भारत हित विद्या पढ़ी छोड़ि घर-बार॥

❀ ❀ ❀ ❀

कहुँ हरवाहन संध्या सीखी कहुँ कहुँ बैठि गई टकसार।

❀ ❀ ❀ ❀

हाल समाजिन को का कहिये बातन छप्पर देयँ उड़ाय॥
पै दुइ चारि जनेन को तजि कै, कुछ करतूति न देखी जाय।
सगे समाजिन ते नित ऐंठैं, राँधि परोसिन को धरि खायँ॥
मुख ते बेद बेद गोहरावैं, लच्छन सबै सुलच्छन आयँ।
आँकु न जानैं सँसकीरति को, लेइँ न गायत्री को नाउँ॥
तिनका आरज कैसे कहिये, मैं तो हिंदू कहत लजाउँ।"

❀ ❀ ❀ ❀

(प्रतापनारायण के धार्मिक सिद्धांत तथा)
विचार-विशदता

अभी मिश्र जी की जिस परिहास-प्रियता तथा मनमौजीपन का उल्लेख किया गया है उसी से उनकी मानसिक प्रवृत्ति का पता लग सकता है। क्योंकि जिस पुरुष के चरित्र में ये दोनों गुण ओत-प्रोत रहते हैं उसकी मानसिक दृष्टि बड़ी विशद होती है। परिहासप्रियता उसे सदैव सांसारिक व्यापारों के वास्तविक महत्त्व का ज्ञान कराती रहती है। जब उसकी दृष्टि किसी पुरुष

के उपहासास्पद व्यवहार पर अथवा चरित्र पर पड़ती है तो परिहासप्रिय तबीयतवाले को तुरंत इस बात का अनुभव हो जाता है कि उस आदमी की चाल-ढाल में तथा आंतरिक मानसिक प्रवृत्ति में कहाँ तक वास्तविक तथ्य है। इसके सिवाय मनमौजी आदमी कभी किसी विषय पर विचार करते समय अत्यधिक गंभीर नहीं होता। उसके हिसाब से संसार के विभिन्न व्यापार क्रीड़ा-मात्र हैं और संसार एक विस्तृत क्रीड़ा-स्थल है।

एवं मतमतांतरों के वितंडावाद को वे कोरी बक-झक समझते थे। धर्म के नाम पर जो नित्य व्यर्थ के आडंबर रचे जाते हैं और जिनके कारण बखेड़े खड़े हुआ करते हैं उनके प्रति प्रतापनारायण जी घृणा रखते थे। मतवादियों के लिए तो वे यहाँ तक कह गये हैं कि—'वे अवश्य नर्क जावेंगे।' इस शीर्षक के लेख में कहते हैं:—

"......एक पुरुष ईश्वर की बड़ाई के कारण उसे अपना पिता मानता है, दूसरा उसके प्रेम के मारे उसे अपना पुत्र कहता है। इसमें दूसरे के बाप का क्या इजारा है......"

बहुत वर्षों से अथवा बहुत पीढ़ियों से जो विश्वास एक के जी पर जमा हुआ है उसे उखाड़ कर उसके ठौर पर अपना विचार रक्खा चाहते हैं। भला इससे बढ़ कर हरि-विमुखता क्या होगी? और ऐसे विमुखों को भी नरक न हो तो ईश्वर के घर में अंधेर है।

अर्थात् प्रतापनारायण जी संगठितरूप में सामुदायिक

धार्मिक सिद्धांतों के विरोधी हैं। वे यह नहीं पसंद करते कि किसी धार्मिक संस्था के द्वारा समस्त समाज को एक ही प्रकार के धार्मिक सिद्धांत ग्रहण करने पर बाधित किया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मानसिक प्रवृत्ति के तद्रूप अपना धर्म ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति की भावनायें अपने अपने सांसारिक अनुभवों के हिसाब से बिलकुल अलग होती हैं और जिन प्रवृत्तियों से उसका जीवन प्रभावित हो वही उसका धर्म है।

प्रतापनारायण जी के मनोरंजक शब्दों में 'यदि ईश्वर एक ही लाठी से सबको हाँके तो वह (ईश्वर कैसा ?)'।

इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि प्रतापनारायण जी व्यक्तिगत विचार-स्वातंत्र्य के कितने बेढब पक्षपाती थे। कहीं कहीं मतों को फटकारते हुए वे इतने जोश में आ गये हैं कि नास्तिकता का समर्थन करने लगे हैं। 'नास्तिक' पर एक लेख भी उन्होंने लिखा है।

भिन्न भिन्न मतावलंबियों में अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की तथा दूसरों को हेय समझने की जो आदत होती है उस पर मिश्र जी बड़ी मज़ेदार टीका करते हैं और मतांतर-मात्र को अनावश्यक सिद्ध करते हैं:—

"जब जिसके लिये जो बात ईश्वर योग्य समझता है तब तिसको तौन ही बदला देता है। उससे बढ़ के बुद्धिमान कोई नहीं है। वह अपनी प्रजा का हिताहित आप जानता है। बेद

बाइबिल, कुरान बना के मर नहीं गया, न पागल हो गया है कि अब पुस्तक-रचना न कर सके। यदि एक ही मत से सबका उद्धार समझता हो तो अन्य मतावलंबियों के ग्रंथ मनुष्य और सारे चिह्न नाश कर देने में उसे किसका क्या डर है ?

······यदि बेद, बाइबिल और कुरानादि की एक प्रति अग्नि तथा जल में डाल दी जाय तो जलने अथवा गलने से कोई न बचेगी। फिर एकमतवाला किस शेखी पर अपने को अच्छा और दूसरे को बुरा समझता है।······"

एवं, 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां' के वे मानने वाले थे।

इस प्रसंग में यह विचार करना है कि उनके समय में स्वामी दयानंद ने आर्यसमाज नामक जो नई धार्मिक संस्था खड़ी की थी और पौराणिक काल से परम्परागत चले आये मूर्तिपूजा आदि धार्मिक विधानों का खंडन किया था उनकी ओर पंडित प्रतापनारायण जी की कैसी धारणा थी। बात यह है कि आर्य-समाज ने लोगों की विचार-गति को पलटने के उद्देश्य से जो क्रांति मचाई थी उससे उस समय के अधिकांश लोग हिल गये थे और ऐसे झुँझला से गये थे जैसे कि सोते से जगाये हुए आदमी की दशा होती है।

यह देख कर आश्चर्य होता है कि प्रतापनारायण जी आर्य-समाज के वास्तविक महत्त्व को खूब समझ गये थे और आज-कल हम लोग जिस श्रद्धापूर्ण दृष्टि से उसके कार्य को देखते हैं उसी से उन्होंने इतने समय पूर्व देख लिया था। वे कहते हैं:—

"स्वामी दयानंद तथा उनके सहकारियों ने (प्रतिमा-पूजन आदि के विषय में) जो उपदेश करना स्वीकार किया था (उसके लिये) हम उन्हें कोई दोष न देंगे, क्योंकि उनका मुख्य प्रयोजन भारत-संतान को घोर निद्रा से जगाना था। जिसकी युक्ति उन्होंने यही समझी थी कि कुछ कष्ट देने वाली तथा कुछ झुँझलाहट चढ़ाने वाली बातें कहके चौकन्ना कर देना चाहिये।"

ऐसी व्यापक दृष्टि उस 'रिंद' (मस्त) के लिए बिलकुल स्वाभाविक थी जो धर्म को 'मकड़ी का जाला' कहता है और जो ईश्वर-प्रार्थना करते समय यह मंत्र जपता था :—

'गमय दूरे शुष्क ज्ञानं। कुरुत प्रेम-प्रमाद-दानम्।' संसार के बड़े बड़े संतों तथा भक्तों ने मस्ती में रँगे हुए जिस तल्लीनता अथवा आनंदातिरेक का अनुभव करने के लिए शुष्क तत्त्वज्ञान का तिरस्कार किया है, ठीक उसी रिंदी का उपदेश प्रतापनारायण ने जगह जगह अपने लेखों में दिया है।

'दिल और दिमाग़' ये ही समस्त सांसारिक ज्ञान को प्राप्त करने के दो उपकरण हैं। किसी को दिमाग़ की विवेचनाशक्ति ही पर अधिक भरोसा रहता है, जैसे तत्त्वज्ञानी लोग। इसके प्रतिकूल जो स्वभावतः मस्त तबीयत के होते हैं उन्हें कोरी दार्शनिक क्रीड़ा में मज़ा नहीं आता। वे अपनी सहृदयता की मात्रा बढ़ाते हुए उसी के द्वारा सांसारिक जीवन को आनंदमय बनाने में निरंतर लीन रहते हैं। ऐसे ही आनंदी जीवों के हाथ से प्रत्येक युग में सर्वोत्कृष्ट साहित्य तथा कला का जन्म होता

है और उन्हीं के प्रभाव से विश्व की जीवन-धारा प्रवाहित रहती है। रूखे दिमाग़ी ज्ञान का उपार्जन करने में अपनी सारी शक्तियाँ केंद्रित करनेवालों की अंत में उपेक्षा की जाती है, क्योंकि ऐसे नीरस ज्ञान से मानव-हृदय को कभी सच्ची शांति नहीं मिलती।

'सोने का डंडा और पौंड़ा' शीर्षक लेख में प्रतापनारायण जी ने इस तथ्य का मार्मिक विवेचन किया है। 'सोने का डंडा' शुष्क ज्ञान का द्योतक है जो देखने में बड़ा मनोमोहक होता है, किंतु जिससे किसी की आत्मा को वास्तविक शांति नहीं मिल सकती। 'पौंड़े' से अभिप्राय है हार्दिक रसीलेपन से।*

महाकवि सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में उद्धव और गोपियों में जो ज्ञान और भक्ति विषयक बातचीत कराई है उसका भी सारांश यही है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में किसी न किसी समय किसी न किसी रूप में ऐसी मानसिक अवस्था का अवश्य अनुभव करता है जिसमें उसे ज्ञान और भक्ति के प्रतिद्वंद्वी भावों का पारस्परिक संघर्ष होता प्रतीत होता है। जिनमें अधिक मनोबल होता है वे शीघ्र इस द्वंद्व-युद्ध का निबटारा कर लेते हैं। पर निर्णय हमेशा भक्ति अथवा हार्दिक प्रवृत्तियों के पक्ष में होता है। संत तथा रिंद अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा

---

* इस संबंध में Tennyson की प्रसिद्ध कविता 'Palace of art' पढ़ने लायक़ है।

इस मस्ती अथवा तल्लीनता पर अटल रहते हैं और सांसारिक विषयों की ओर उनकी समदृष्टि रहती है। इस श्रेणी में बड़े मसख़रे लोग, कविगण तथा अन्य कलाकोविद सम्मिलित होने चाहिए।

इसी मानसिक स्थिरता अथवा औदार्य को प्रतापनारायण जी अपने भावपूर्ण शब्दों में यों प्रकट करते हैंः—

"जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजिएगा, वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के विना वेद झगड़े की जड़, धर्म वे सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेख़चिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता लगाना ही कठिन है······।"

हद हो गई रिंदी की? दुनिया के किसी तजुर्बे को और धर्म के किसी तत्त्व को तौलने की कितनी अच्छी कसौटी है!

'एकै आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय' वाली बात है।

इसी मस्ती की तरंग में आकर मिश्र जी ने 'मदिरा' की बहुत कुछ तारीफ़ कर डाली है। कुछ लोगों को केवल इसी सूफ़ियाना ढँग से की गई प्रशंसा के कारण यह भ्रांति हो गई है कि प्रतापनारायण जी मदिरा-सेवक थे। यह धारणा ऐसी ही निर्मूल है जैसी कि चोरी का दृश्य वर्णन करने वाले किसी कहानी-लेखक अथवा नाटककार को चोर समझने की।

प्रतापनारायण का देश-प्रेम तथा उनके सार्वजनिक भाव

प्रतापनारायण के समय में राष्ट्रीयता की एक देशव्यापी लहर उठी थी। बात यह थी कि पश्चिमीय शिक्षा के प्रचार से पढ़े लिखे लोगों की काफ़ी बड़ी संख्या तैयार हो रही थी। इस शिक्षा-वृद्धि का फल यह हुआ था कि शिक्षित लोगों के द्वारा जनता में जातीयता और स्वाभिमान के प्रबल भाव उठने लगे थे। सन् १८५७ के बलवे के पीछे यों भी भारतीय संस्कृति और विदेशी संस्कृति में पारस्परिक आघात-प्रतिघात होना शुरू हो गया था।

इस राष्ट्रीयता के आवेग में और भी कई आंदोलन उत्तेजित हो गये थे। उत्तरी भारत भर में हिंदी-भाषा और देवनागरी-लिपि के प्रचार का प्रयत्न हो रहा था। इसके सिवाय सामाजिक सुधार की ओर भी सुशिक्षित लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा था। एवं सर्वत्र सार्वजनिक भाव ज़ोर पकड़ रहे थे।

पंडित प्रतापनारायण कानपुर के उन थोड़े से आदमियों में थे जिन्होंने शहर की पबलिक में उपर्युक्त भाव दृढ़रूप से पैदा करने की कोशिश की और जिन्होंने देश-हित के कामों में पूरा सहयोग दिया। उनका जीवन वास्तव में सार्वजनिक जीवन के हेतु ही समर्पित था।

जब कभी म्युनिसिपैलिटी अथवा सरकार कोई नया टैक्स लगाती या ऐसा कोई काम करती जिससे कि सारी पबलिक को किसी प्रकार की असुविधा होने की संभावना होती तो चट मिश्र जी उनकी तरफ़ से प्रतिशोध करने उठ खड़े होते और अपने 'ब्राह्मण' नामक पत्र में व्यंग से भरे लेखों की झड़ी लगा देते।

'इन्कमटैक्स' पर उनका एक लेख है। वह पढ़ने लायक़ है।

उन दिनों गोशाला-आंदोलन कानपुर में चल रहा था। अक्सर गोशाला खोलने के लिए सभाएँ होती थीं और चंदा इकट्ठा होता था। पर, अधिकतर लोगों की उदासीनता से या प्रबंधकों के कुप्रबंध के कारण शीघ्र ही गोशाले ठंढे हो जाते थे। इस विषय में प्रतापनारायण जी ने कई जगह कानपुर पबलिक को खरी-खोटी बातें जी भर सुनाई हैं। नमूना लीजिए:—

"पंडित बहुत बसैं कम्पू मां, जिनका चारि खूँट लग नांव।
बहुतक बसैं रुपैयौ वाले, जिन घर बास लच्मी क्यार॥
नाम न लैहौं मैं बाम्हन को, अस ना होय जीभ रहि जाय।
कौन आसरा तिन ते करिये, जिउ की करैं रच्छिया हाय।
नामबरी केरे लालच माँ, चाहै रहै चहै घर जाय॥
आतसबाजी फूँकि बुझावै, औ फुलवारी देयँ लुटाय।

❀ ❀ ❀ ❀

गऊ रच्छिनी कठिन काम है, नाहीं खेल लरिकवन क्यार ।
दिन भर बारन के ऐंछैया, नहिं करतूत दिखावनहार ॥"

❀ ❀ ❀ ❀

और भी देखिए कानपुर वालों पर कैसे छींटे डाले हैं :—

"कोऊ काहू हीन कतहुँ सतकर्म सहायक ।
केवल बात बनाय बनत प्रहसन सब लायक ॥
कुटिलन सों ठगि जाहिं ठगहिं सूधे सुहृदन कहँ ।
करहिं कुकर्म करोरि छपावहिं न्याय धर्म महँ ॥
कछु डरत नाहिं जगदीश कहँ करत कपट-मय आचरन ।
कलिजुग-रजधानी कानपुर भारत कहँ गारत करन ॥

('ककाराष्टक' से)

गोरक्षा के प्रति उनकी कितनी हार्दिक प्रेरणा थी इसका अनुमान उनकी अमर लावनी 'बाँ बाँ करि तृण दाबि दाँत सों, दुखित पुकारत गाई हैं' से प्रकट होता है। कहते हैं जिस समय एक बार कन्नौज में उन्होंने भरी सभा में यह लावनी सस्वर गाई थी तो कई एक क़साइयों तक के दिल पिघल गये थे। 'कानपुर-माहात्म्य' नाम के आल्हा में भी 'गैया माता तुमका सुमिरौं कीरति सब ते बड़ी तुम्हारि' ये पंक्तियाँ बड़ी भाव-पूर्ण हैं।

देशप्रेम तथा स्वतंत्रता के भाव भी उनमें बड़े प्रबल थे। उन्हीं के समय में कांग्रेस का जन्म हुआ था। ऊपर कह चुके हैं कि उसके जन्मदाता ह्यूम साहब में उनकी कितनी श्रद्धा थी।

कांग्रेस के अधिवेशनों में जहाँ तक बन पड़ता था वे अवश्य सम्मिलित होते थे।

कांग्रेस को वे साक्षात् दुर्गा का अवतार कहते थे क्योंकि 'वह देश-हितैषी देव-प्रकृति के लोगों की स्नेह-शक्ति से आविर्भूत' हुई थी।

सामाजिक सुधार के मामले में वे अपने समय से काफ़ी आगे थे। जाति-पांति, खान-पान संबंधी झमेलों के वे घोर विरोधी थे, क्योंकि वे समझते थे कि इनकी आड़ में काफ़ी पाखंड होता है। अनाड़ी पुरोहितों की धूर्त-लीला पर भी 'कानपुर-माहात्म्य' में उन्होंने कई लाइनें लिखी हैं:—

"बेद बिना तुम पंडित कैसे, दछिना लेत न आवै लाज।
धरम के अगुआ बाह्मन देउता, तिन घर बेद न निकरैं हाय॥

❀ ❀ ❀ ❀

होय आसरा जो सीधा को, तौ खनि डारैं जाय दुआर।"

'तृप्यंताम' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में भारत की आर्थिक तथा सामाजिक अवनति का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र मिलता है। साथ ही साथ यह भी दिखाया गया है कि अतीत काल में यह देश कैसा संपन्न था। अंत में ऐसी हीन अवस्था का ध्यान करके यही प्रार्थना करते हैं:—

"अब यह देश डुबाय देहु बसि हम बर मागैं करि परनाम।"

अपने देश-प्रेम का परिचय पंडित प्रतापनारायण जी ने एक और ढँग से भी दिया है। 'यह तो बतलाइये' शीर्षक लेख

में तथा अन्यत्र भी उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं को प्रयोग करने की सलाह दी है। उसमें समाज में प्रचलित प्रथाओं तथा विदेशी वस्तुओं को काम में लाने को कुत्सित ठहराते हुए छूत-छात का पाखंड फैलाने वाले बगुला भक्तों को संबोधित करते हुए वे कहते हैं:—

"यदि घर में कुत्ता, कौआ कोई हड्डी डाल दे अथवा खाते समय कोई मांस का नाम ले ले तौ आप मुँह बिचकाते हैं। पर विलायती दियासलाई और विलायती शक्कर इनको आप आरती के समय बत्ती जलाने को सिंहासन के पास तक रख लेते हैं और भोग लगा के गटक जाने तक में नहीं हिचकते।"

हिंदी-प्रेम

राष्ट्रीयता की जो झलक प्रतापनारायण जी के लेखों में मिलती है उसके साथ साथ उनका हिंदी-प्रेम भी प्रकट होता है। उनका प्रगाढ़ हिंदी-प्रेम इन पंक्तियों से पूरी तौर से टपकता है जो प्रत्येक हिंदी जानने वाले की ज़बान पर रहती है:—

"चहहु जु साँचो निज कल्यान।
तौ सब मिलि भारत-संतान॥
जपो निरंतर एक ज़बान।
हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान॥
तबहिं सुधरिहै जन्म निदान।
तबहिं भलो करिहै भगवान॥
जब रहिहै निशि-दिन यह ध्यान।

हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान ॥"

इस हिंदी-प्रचार की धुन में जब कभी किसी उर्दू के पक्षपाती समाचार-पत्र के संपादक से उनका वाग्युद्ध छिड़ जाता था, तो लगातार कई हफ्तों तक वे अपने पत्र में उर्दू के पीछे पड़ जाते थे। 'उर्दू बीबी की पूँजी' इस विषय पर उनका बड़ा चटपटा लेख है। उसमें उन्होंने मख़ौलपने की तथा व्यङ्ग की हद कर दी है। यह अवतरण देखिए:—

"उर्दू की वास्तविक पूँजी यदि विचार के देखिये तो 'आशिक़', 'माशूक़', 'बाग़', 'बुलबुल', 'सैयाद', 'शराब', 'साक़ी', इतनी ही बातें हैं जिन्हें उलट-फेर के वर्णन किया करो, आप बड़े अच्छे उर्दूदाँ हो जायँगे। हमारे एक मित्र का वाक्य कितना सच्चा है कि और सब विद्या है, यह अविद्या है। जन्म भर पढ़ा कीजिये तेली के बैल की तरह एक ही जगह घूमते रहोगे।"

इसमें अत्युक्ति बहुत ज्यादा है। पर जिस परिहास की तरंग में यह लिखा गया है उसके यह सर्वथा उपयुक्त है। संभव है कि किसी उर्दू के हिमायती की दलीलों से चिढ़ कर यह लिखा हो। क्योंकि वे स्वयं उर्दूदाँ थे और फ़ारसी में भी शायद उनका काफ़ी प्रवेश था। उर्दू में उन्होंने बड़ी रोचक शेरें भी लिखी हैं। अतएव, उर्दू को 'सब भाषाओं का करकट' तक कह डालने से उनकी उर्दू के प्रति कोई वास्तविक घृणा न रही होगी।

प्रतापनारायण की साहित्यिक मंडली

पंडित प्रतापनारायण की साधारण जीवन घटनाओं तथा

चरित्र पर प्रकाश डालने के बाद स्वभावतः उनके साहित्यिक जीवन की छान-बीन करनी है।

१६ वीं शताब्दी का अंतिम भाग हिंदी की उन्नति का स्वर्णयुग था। उस समय उत्तरी भारत में साहित्य-चर्चा के कई केंद्र बन गये थे। कलकत्ते में 'भारतमित्र' के संपादन-विभाग में बड़े बड़े साहित्य-सेवियों का अड्डा रहता था, जैसे पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, गोविंदनारायण मिश्र, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, अमृतलाल चक्रवर्ती, बाबू बालमुकुंद गुप्त। ये सब प्रतिभावान् लेखक थे और इनके फड़कीले लेखों से हिंदी-भाषी प्रांतों में सर्वत्र साहित्यिक रुचि उद्दीप्त होती थी।

काशी में भारतेंदु हरिश्चंद्र एक अनुपम साहित्यिक वातावरण बनाये हुए थे। वे स्वयं रसज्ञ थे और उनके प्रोत्साहन से अनेक प्रतिभासंपन्न साहित्य-प्रेमी एकत्रित हो गये थे। उनकी रचनाओं से तथा उनकी सहृदयता से प्रभावित होकर चारों ओर नये नये लेखक निकल रहे थे।

कानपुर में जो मंडली बन रही थी उसमें पंडित ललिता-प्रसाद जी त्रिवेदी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र आदि प्रधान थे। इनमें प्रतापनारायण जी तो भारतेंदु के पक्के शिष्य तथा प्रेमी थे। अपने उपास्यदेव का शिष्यत्व उन्होंने आजन्म निबाहा। भारतेंदु पर उनकी इतनी श्रद्धा-भक्ति थी कि उन्होंने हरिश्चंद्र-संवत् तक लिखना शुरू कर दिया था। एवं, यह कहने में ज़रा भी अत्युक्ति न होगी कि प्रतापनारायण मिश्र के साहित्यिक

गुण किंवा उनके चरित्र की स्मरणीय विशेषतायें सभी भारतेंदु के संपर्क से प्रस्फुटित हुई थीं। उनके साहित्यिक महत्त्व का विश्लेषण विना भारतेंदु का उल्लेख किये अधूरा रहता है।

एक बार भारतेंदु सख्त बीमार पड़ गये थे। जब वे आराम हुए तब 'प्रतापहरी' ने उन पर एक बड़ा सरस क़सीदा लिखा था। उसका कुछ अंश दिया जाता है जिससे बाचकों को पता लग सकेगा कि मिश्र जी भारतेंदु को कितनी भक्ति से देखते थे:—

"बनारस की ज़मीं नाज़ां है जिसकी पायबोसी पर।
अदब से जिसके आगे चर्ख़ ने गरदन झुकाई है।

❀ ❀ ❀ ❀

कहे गर इन दिनों वायज़ कि मय पीना नहीं अच्छा।
तो बेशक मस्त कह बैठें कि तुमने भाँग खाई है॥

❀ ❀ ❀ ❀

उसे क्या कोई दिखलावेगा अपने ख़ाम के जौहर।
रसा है वह ख़ुद उसके ज़िहन की वाँ तक रसाई है॥"

भारतेंदु के प्रेमपात्र तथा भक्त होने का प्रतापनारायण को गर्व भी था। वैसे भी बैसवाड़े के रहनेवाले कान्यकुब्जों की ठसक उनमें थी ही। उसके अतिरिक्त उनकी प्रकृति में उद्दंडता और अहम्मन्यता काफ़ी थीं। ये दोनों बातें उच्च कोटि के साहित्यसेवियों तथा कलाविदों में अक्सर मिलती हैं।

एक बार प्रतापनारायण के किसी भक्त ने बड़े स्नेहमय

शब्दों में उन्हें एक पत्र लिखा था। वह 'ब्राह्मण' में निकला था। उसको प्रकाशित करते समय उन्होंने अपने विषय में हृदय के कुछ उद्गार यों निकाले थे:—

"…कुछ न सही, पर कानपुर में कुछ एक बातें केवल हमी पर परमेश्वर ने निर्भर की हैं…

यदि लोग हमको भूल भी जायँगे तो यहाँ की धरती अवश्य कहेगी कि हममें कभी कोई ख़ास हमारा था।

……बाज़े बाज़े लोग हमें श्री हरिश्चंद्र का स्मारक समझते हैं। बाज़ों का ख़्याल है कि उनके बाद उनका सा रंग ढंग कुछ इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमंड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुंभ उनके अधिकार में था उसी का एक प्याला हमें भी दिया गया है, और उसी के प्रभाव से बहुतेरे हमारे दर्शन की, देवताओं के दर्शन की भांति, इच्छा करते हैं…… ।"

वाचक इससे स्वयं ही समझ सकते हैं।

पंडित प्रतापनारायण और 'ब्राह्मण'

जिस प्रकार पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक जीवन से 'सरस्वती' को अलग नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार 'प्रताप मिश्र' और 'ब्राह्मण' को भी एक दूसरे से विभक्त नहीं कर सकते।

'ब्राह्मण' मार्च सन् १८८३ से निकलने लगा था और जुलाई सन् १८८६ तक रो-पीट कर चला। इस बीच में सदैव ग्राहकों की नादिहंदी का उलाहना देते ही बीता। कभी तो एक रुपया

वार्षिक चंदा न देनेवाले ग्राहकों के नाम ब्रह्मघातकों की श्रेणी में लिखे जाते थे और उन्हें शर्मिंदा करने की कोशिश की जाती थी। कभी 'आठ मास बीते जजमान, अबतो करौ दक्षिणा-दान' की हास्यपूर्ण अपील करके उनसे चंदा वसूल करने का ढंग अख्तियार किया जाता था।

अंत में, मिश्र जी इस प्रकार के मुफ्तख़ोर कच्चे हिंदी-प्रेमियों से परेशान हो गये और अपनी गाँठ से ख़र्च करते करते हार गये। यह नौबत आगई कि शीघ्र ही 'ब्राह्मण' बंद करना पड़ा।

इसके पहले कि 'ब्राह्मण' के साहित्यिक महत्त्व पर विचार किया जाय ज़रा उसके उद्देश्य को प्रतापनारायण जी के ही शब्दों में देखिए। सब से पहले अंक में उन्होंने 'प्रस्तावना' शीर्षक छोटे से लेख में यह लिखा था:—

"……कानपुर इतना बड़ा नगर सहस्रावधि मनुष्य की बस्ती (?)। पर नागरी पत्र जो हिंदी-रसिकों को एक मात्र मन बहलाव देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय शिक्षक और सभ्यता-दर्शक (हो ?) यहाँ एक भी नहीं। …… सदा अपने यजमानों (ग्राहकों) का कल्याण करना ही हमारा मुख्य कर्म होगा।

……हमको निरा ब्राह्मण ही न समझियेगा। जिस तरह सब जहान में कुछ हैं हम भी अपने गुमान में हैं कुछ। हमारी दक्षिणा भी बहुत न्यून है। …… हाँ, एक बात रही जाती है। जन्म हमारा फागुन में हुआ है और होली की पैदा-

इश प्रसिद्ध है। कभी कोई हँसी कर बैठे तो क्षमा कीजिएगा।"

'ब्राह्मण' बंद करते समय अपने जजमानों से विदा माँगते समय भी 'अंतिम संभाषण' में उन्होंने 'ब्राह्मण' की साहित्य-सेवा पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इस सिंहावलोकन के पहले ये प्रसिद्ध शेर हैं:—

"दरो दीवार पै हसरत से नज़र करते हैं।
ख़ुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं॥"

आगे वे कहते हैं:—

"यह पत्र अच्छा था या बुरा, अपने कर्त्तव्य-पालन में योग्य था अथवा अयोग्य, यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है; पर, हाँ इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी, और साहित्य को थोड़ा-बहुत सहारा इससे भी मिलता रहता था...... ।"

एवं, पंडित प्रतापनारायण ने केवल साहित्य-चर्चा को उत्तेजित करने के उद्देश्य से 'ब्राह्मण' निकालना शुरू किया था। किंतु उसके द्वारा उस समय की जनता में देश-भक्ति के भाव उत्पन्न करना तथा सामाजिक सुधार की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना भी उनका अभीष्ट था। तभी तो 'ब्राह्मण' के पन्ने 'गो-रक्षा', 'स्वदेशी', 'कान्यकुब्ज-कुरीति-निवारण' आदि विषयों से भरे पड़े हैं।

यह होते हुए भी यही मानना पड़ता है कि 'ब्राह्मण' ने साहित्यिक सेवा सब से अधिक की है।

उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि अधिकाधिक शिक्षित लोगों की रुचि उर्दू और फ़ारसी से हटा कर हिंदी की ओर आकृष्ट की जाय। ऐसी दशा में एक प्रकार के सुगम साहित्य का होना नितांत आवश्यक था। क्योंकि उसके बिना अंग्रेजीदाँ लोग एकाएक विदग्ध साहित्य की तरफ़ कभी प्रेरित हो ही नहीं सकते थे। 'ब्राह्मण' ने इस सरल किंतु रोचक साहित्य की रचना में कहाँ तक योग दिया, इसका अनुमान करने के लिए उसमें समय समय पर प्रकाशित लेखों के विषय-वैचित्र्य को देखिए।

'किस पर्व में किसकी बनि आती है', 'किस पर्व में किसकी आफ़त आती है', 'कलि-कोष', 'ककाराष्टक', 'चूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'जन्म सुफल कब होय', 'होली है' आदि उपर्युक्त ढँग के मनबहलाव करने वाले सुबोध निबंध तथा कविताओं के अच्छे नमूने हैं।

'किस पर्व में किस पर आफ़त आती है' से एक अवतरण लीजिए:—

"माघ का महीने का महीना कनौजियों का काल है। पानी छूते हाथ-पाँव गलते हैं, पर हमें बिना स्नान किये फल-फलहारी खाना भी धर्म-नाशक है। जल-शूर के मानी चाहे जो हों, पर हमारी समझ में यही आता है कि सूर अर्थात् अंधे बन के, आँखें मूँद कर लोटा-भर पानी डाल लेने वाला जल-शूर है।"

कभी कभी सामयिक विषयों पर भी बड़े व्यंग-पूर्ण लेख 'ब्राह्मण' में निकला करते थे। 'मिडिल क्लास', 'इन्कमटैक्स', 'होली है अथवा होरी है', 'पड़े पत्थर समझ पर आपकी समझे तो क्या समझे' इस प्रकार के लेखों में से हैं। इसके सिवाय साधारण विषयों पर मुहावरेदार सीधी-सादी किंतु सजीव भाषा में बहुत से निबंध भी हुआ करते थे। इनमें से उत्तमोत्तम निबंध प्रस्तुत संग्रह में दिये जाते हैं।

इनमें से हम 'भौं', 'बालक', 'सोना', 'युवावस्था', 'द', 'ट', 'परीक्षा', 'मायावादी अवश्य नर्क में जावेंगे', 'नास्तिक', 'शिवमूर्ति', 'समझदार की मौत है', को काफ़ी ऊँचा स्थान देते हैं। हाँ, उनकी भाषा तथा उनके भावों में इतनी प्रौढ़ता नहीं है जितनी कि पंडित बालकृष्ण भट्ट के प्रबंधों में है। फिर भी जिस उद्देश्य को सामने रख कर वे लिखे गये थे उसकी पूर्ति अच्छी तरह से हो गई है। यह उद्देश्य मनोरंजनपूर्ण शिक्षा देना तथा हिंदी की ओर लोगों की अभिरुचि उद्दीप्त करना था।

हिंदी-गद्य और प्रतापनारायण

पंडित प्रतापनाराण जी केवल उपदेशक अथवा हिंदी-प्रचारक ही नहीं थे। हिंदी में संपादन-साहित्य और स्थायी साहित्य का घनिष्ट संयोग स्थापित करके उन्होंने गद्य-शैली को सुचारु आधुनिक रूप देने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

उनके समसामयिक गद्य-लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट

और भारतेंदु हरिश्चंद्र प्रधान थे। भट्ट जी ने अपने 'हिंदी-प्रदीप' के द्वारा ठीक उसी प्रकार हिंदी-गद्य की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न किया है जैसा कि मिश्र जी ने 'ब्राह्मण' के द्वारा किया है। दोनों ही का प्रधान उद्देश्य जनसाधारण की रुचि हिंदी की ओर आकर्षित करना तथा होनहार लेखकों को प्रोत्साहन देना था। 'हिंदी-प्रदीप' के लेख कहीं ऊँचे दर्जे के होते थे, किंतु 'ब्राह्मण' विशेषकर अधकचरे पाठकों के मनोविनोद का मसाला प्रस्तुत करता था।

इसके सिवाय प्रतापनारायण जी जिस ढँग की शैली का व्यवहार करते हैं, वह मुहावरों, लोकोक्तियाँ तथा हास्य-व्यंग से सराबोर होने के कारण रोचक तो ख़ूब जान पड़ती है, पर वह उत्कृष्ट कोटि की कदापि नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसमें बहुत जगह भाषा-शैथिल्य, व्याकरण-दोष तथा अन्य प्रकार की असमीचीनता है। विराम-चिह्नों का तो नाम तक नहीं मिलता। मज़ाक़ करने में भी कहीं कहीं मिश्र जी साधारण शिष्टता का उल्लंघन बे रोक-टोक कर डालते हैं।

इन खटकनेवाले दोषों के रहते हुए भी प्रतापनारायण की गद्य-शैली पुराने गद्य-लेखकों की शैली का अत्यंत परिपक्व तथा विकसित रूप है। उसका मुख्य गुण यह है कि वह बड़ी सुबोध और भावपूर्ण है। दूसरे उसमें वह गुण है जो प्रत्येक उच्चकोटि के गद्य में मिलता है, अर्थात् प्रतापनारायण जी के लेखों को पढ़कर पाठक को उनकी तबीयत का तथा उनके चरित्र का

अच्छा ज्ञान हो जाता है, और उसमें उनके विषय की जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता पैदा हो जाती है।

सुबोधता उनकी शैली में इस कारण है कि वे प्रायः बोल-चाल की भाषा लिखते हैं जिसमें मौक़े पर मुहावरों का प्रयोग होता है या प्रसंग के अनुसार चुभते हुए उद्धरण होते हैं। भाव-पूर्णता अथवा सजीवता लाने में भी यही युक्ति काम देती है। एक उदाहरण लीजिए :—

"यह कलजुग है। बड़े बड़े बाजपेयी मदिरा पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से ! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में 'हाथी मच्छर, सूरज जुगनू' दिखाई देता है...... ।"

वाचकों के साथ पारस्परिक मैत्रीभाव स्थापित करने में प्रतापनारायण जी की सहृदयता, स्पष्टवादिता तथा दिल्लगीबाज़ी सहायक होती हैं। इन्हीं की प्रचुरता के कारण उनके लेखों को पढ़ते समय हमारे दिल को बड़ा मज़ा मिलता है और उनके लिए वही भाव उत्पन्न होते हैं जो किसी मनोरंजक वार्त्तालाप करने वाले पुरुष के प्रति होते हैं।

उनकी शैली में एक और उत्तमता है। उनकी सूझ तो अद्वितीय है ही। पर, साथ ही साथ वाचकों को चकित करने की शक्ति भी उनमें है। अर्थात्, कभी कभी किसी विषय पर निबंध लिखते हुए वे अपने विचारों को ऐसा विचित्र घुमाव-फिराव दे देते हैं कि पढ़नेवाले का मन खिल सा उठता है।

उदाहरण लीजिए:—

"यह तो समझिए यह देश कौन है ? वही न ? जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल व खड्ग वा धनुष से खाली नहीं हैं; जहां धर्म-ग्रंथ में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहां शृंगार-रस में भी भ्रू-चाप और कटाक्ष-बाण, तेरो अदा व कमाने अब्र का वर्णन होता है। यहां से लड़ाई भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानो सर्वनाश हो जाना है। अभी हिंदुस्तान से किसी वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भांति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है। पर क्या कीजिये, अवसर न मिलने ही से 'बांधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गये तोंदिआय'।"

('दशहरा और मुहर्रम')

कैसा चुभता हुआ व्यंग है और अंत में कैसी उपयुक्त कहावत है! उनके लेखों के शीर्षक भी क्या ही विचित्र होते थे:— 'मरे का मारैं साह मदार', 'ऊंच निवास नीच करतूती', 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'आप', 'ट', 'द' इत्यादि। यही नहीं इन अजीब शीर्षकों को ले कर कभी कभी वे प्रकांड निबंध-लेखक की सी काल्पनिक उड़ान लेते हैं जिससे उनकी स्वाभाविक सूझ का पता लगता है।

यह तो हुई मिश्र जी के लेखों की समीक्षा। अब देखना है कि हिंदी-गद्य के क्रमिक विकास में उनकी शैली का क्या स्थान है।

अच्छा ज्ञान हो जाता है, और उसमें उनके विषय की जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता पैदा हो जाती है।

सुबोधता उनकी शैली में इस कारण है कि वे प्रायः बोल-चाल की भाषा लिखते हैं जिसमें मौक़े पर मुहावरों का प्रयोग होता है या प्रसंग के अनुसार चुभते हुए उद्धरण होते हैं। भाव-पूर्णता अथवा सजीवता लाने में भी यही युक्ति काम देती है। एक उदाहरण लीजिए:—

"यह कलजुग है। बड़े बड़े बाजपेयी मदिरा पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में 'हाथी मच्छर, सूरज जुगनू' दिखाई देता है……।"

वाचकों के साथ पारस्परिक मैत्रीभाव स्थापित करने में प्रतापनारायण जी की सहृदयता, स्पष्टवादिता तथा दिल्लगीबाज़ी सहायक होती हैं। इन्हीं की प्रचुरता के कारण उनके लेखों को पढ़ते समय हमारे दिल को बड़ा मज़ा मिलता है और उनके लिए वही भाव उत्पन्न होते हैं जो किसी मनोरंजक वार्त्तालाप करने वाले पुरुष के प्रति होते हैं।

उनकी शैली में एक और उत्तमता है। उनकी सूझ तो अद्वितीय है ही। पर, साथ ही साथ वाचकों को चकित करने की शक्ति भी उनमें है। अर्थात्, कभी कभी किसी विषय पर निबंध लिखते हुए वे अपने विचारों को ऐसा विचित्र घुमाव-फिराव दे देते हैं कि पढ़नेवाले का मन खिल सा उठता है।

उदाहरण लीजिए:—

"यह तो समझिए यह देश कौन है ? वही न ? जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल व खड्ग वा धनुष से खाली नहीं हैं; जहां धर्म-ग्रंथ में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहां शृंगार-रस में भी भ्रू-चाप और कटाक्ष-बाण, तेरो अदा व कमाने अत्र का वर्णन होता है। यहां से लड़ाई भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानो सर्वनाश हो जाना है। अभी हिंदुस्तान से किसी वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भांति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है। पर क्या कीजिये, अवसर न मिलने ही से 'बांधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गये तोंदिआय'।"

('दशहरा और मुहर्रम')

कैसा चुभता हुआ व्यंग है और अंत में कैसी उपयुक्त कहावत है! उनके लेखों के शीर्षक भी क्या ही विचित्र होते थे:— 'मरे का मारैं साह मदार', 'ऊंच निवास नीच करतूती', 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'आप', 'ट', 'द' इत्यादि। यही नहीं इन अजीब शीर्षकों को ले कर कभी कभी वे प्रकांड निबंध-लेखक की सी काल्पनिक उड़ान लेते हैं जिससे उनकी स्वाभाविक सूझ का पता लगता है।

यह तो हुई मिश्र जी के लेखों की समीक्षा। अब देखना है कि हिंदी-गद्य के क्रमिक विकास में उनकी शैली का क्या स्थान है।

उनसे पहले हिंदी में गद्य-साहित्य नहीं होने के बराबर था। जो था वह बालकृष्ण जी भट्ट के शब्दों में 'बहुत कम और पोच' था। कुछ पहले उन्हीं के समय राजा शिवप्रसाद ने अपनी उर्दू-मिली हुई भाषा लिख कर हिंदी और उर्दू के बीच में 'पुल' बनाने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया था। राजा साहब के इस प्रयत्न से हिंदी-गद्य को एक नयी स्फूर्ति अवश्य मिली, क्योंकि उनके पहले वह निर्जीव सा था।

प्रतापनारायण जी ने बालकृष्ण जी भट्ट के साथ मिल कर राजा साहब के अत्यधिक उर्दूपन को रोकने का निश्चय किया। उसके बदले में मिश्र जी ने ग्रामीणता, हास्य तथा व्यंग की मात्रा बढ़ाई। इन तीनों के रासायनिक संयोग से एक प्रौढ़, सुबोध, तथा सजीव शैली आविर्भूत हुई। यह एक स्पष्ट सिद्धांत है कि किसी भाषा के गद्य को परिमार्जित और लचीला बनाने के लिए उसमें हास्य तथा व्यंग इन दोनों उपादानों की ज़रूरत पड़ती है। इनके बिना भाषा शुष्क और परिमित-प्रयोग रहती है।

इन गुणों के साथ प्रतापनारायण ने घरेलू मुहावरेदार भाषा का भी संमिश्रण किया है जिससे उनकी शैली में सजीविता आ गई है। उनके समकालीन किसी भी लेखक की भाषा का नित्य-प्रति की बोलचाल की भाषा से इतना घनिष्ट संबंध नहीं है जितना उनका। अस्तु हिंदी-गद्य को वाग्धारा से संयोजन करके उसकी भावी उन्नति का पथ दिखाने में ही उनका स्थान

साहित्य के इतिहास में ऊँचा रहेगा।

प्रतापनारायण की कविता और उनके कविता-विषयक विचार

पंडित जी ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों में कविता करते थे। परंतु उनका यह मत था कि "जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रजभाषा बुंदेलखंडी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फ़ारसी से बन गई है, जिसे चंद से ले के हरिश्चंद्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर किया है उसका सा अमृतमय चित्त-चालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी कवि के बाप की मज़ाल नहीं।"

उनकी उत्तमोत्तम कवितायें लगभग सब ब्रजभाषा में ही हैं। जब कभी व्यंग करना होता था अथवा हँसोड़पन सूझता था तो वे उर्दू की शेरें लिखा करते थे और जिस उर्दू को वे 'सब भाषाओं का करकट' कहा करते थे उसी का व्यवहार करते थे। कविता के लिए वे उसे बुरा नहीं समझते थे और एक जगह कहते हैं किः— "कविता के लिए उर्दू बुरी नहीं है। कवित्व-रसिकों को वह भी वार-ललना के हाव-भाव का मज़ा देती है।"

उनकी खड़ी बोली की कविताएँ अधिकतर सामयिक अथवा शिक्षाप्रद विषयों पर होती थीं। मिश्र जी की कवित्व-

शक्ति का पता तो उनकी ब्रजभाषा की कविताओं से ही लगता है। खड़ी-बोली तथा ब्रजभाषा के बीच में जो आजकल खींचा-तानी हो रही है उसके विषय में उन्होंने स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। खड़ी बोली को उच्चभाव-युक्त कविता के लिए तथा भिन्न भिन्न छंदों के लिए वे सर्वथा अनुपयुक्त मानते थे:—

"सिवाय फ़ारसी छंद और दो-तीन चाल की लावनियों के और कोई छंद उसमें बनाना भी ऐसा है जैसे किसी कोमलांगी सुंदरी को कोट, बूट पहिनाना।"

वास्तव में उनका वह निश्चित सिद्धांत था कि कविता की भाषा में और किसी समय की साधारण बोलचाल की भाषा में काफ़ी अंतर होना चाहिए क्योंकि 'कविता के कर्ता और रसिक होना सब का काम नहीं है। यदि सबको समझाना मात्र प्रयोजन है तो सीधा सीधा गद्य लिखिये।'

कवि का काम अपने हृदय में उद्भूत कोमल भावों को प्रकट करना है और अपनी आत्मा को आनंदानुभव कराना है। जिस प्रकार उसकी सी भावुकता सब में नहीं होती उसी प्रकार उसका सा मनोहारी शाब्दिक चमत्कार किसी दूसरे की भाषा में कैसे मिल सकता है। ठीक इसी तर्क के आधार पर कवि को खड़ी बोली का प्रयोग करने पर बाधित करना मिश्र जी के हिसाब से अनुचित है। तभी वे कहते हैं:—

"जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें चाहे कुदावें, पर कवि लोग अपनी प्यार की हुई बोली

पर हुक्म चला के उसकी स्वतंत्र मनोहरता का नाश नहीं करने के। जो कविता के समझने की शक्ति नहीं रखते वे सीखने का उद्योग करें। कवियों को क्या पड़ी है कि किसी के समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।"

स्पष्टतया, प्रतापनारायण ने यह बड़ी विवादास्पद बात कह डाली है। ब्रजभाषा के लालित्य को स्वीकार करना और बात है, किंतु उसी को कवितोपयुक्त मानने में हठ करना दूसरी बात है। आजकल खड़ी बोली में अच्छी से अच्छी रचनाएँ धड़ाधड़ निकल रही हैं। पर, उनके लिए यह कहना अनिवार्य था। क्योंकि उनका ब्रजभाषा का प्रेम तथा पक्षपात स्वाभाविक था। वे कानपुर के प्रसिद्ध कवि पंडित ललिताप्रसाद जी त्रिवेदी के चेले थे तथा बाबू हरिश्चंद्र के उपासक थे। इसके सिवाय वह ज़माना भी ब्रजभाषा की कविता का था। वे स्वयं रसीली तबीयत के आदमी थे। उनकी भावुकता, उनकी प्रेम-पूर्णता ब्रजभाषा की कविता से ही तृप्त हो सकती थी।

मिश्र जी की समस्त काव्य-रचनाएँ तीन तरह की हैं:—

१. वह कविता जो वे 'स्वांतःसुखाय' लिखते थे।

२. सामयिक।

३. उपदेश-पूर्ण।

पहले ढँग की कविताओं में 'बुढ़ापा', 'साधो मनुवाँ अजब दिवाना', 'शरणागत पाल कृपाल प्रभो', 'मन की लहर' की

लावनियाँ तथा अन्य बहुत स्फुट कवित्त और सवैये हैं। 'बुढ़ापा' में बुढ़ापे की शारीरिक तथा मानसिक जर्जरता का जो सजीव वर्णन है वह किसे भूल सकता है ?

सामयिक रचनाओं में 'नया संवतसर', 'ब्रैडला स्वागत', 'युवराज-स्वागत', 'विक्टोरिया की जुबली', 'कानपुर-माहात्म्य' शीर्षक आल्हा आदि हैं। ये सब अपने ढँग के काफ़ी अच्छे हैं।

शिक्षाप्रद कविता कहीं कहीं बड़ी उच्चकोटि की है। 'तृप्यंताम्', 'बाँ बाँ करि तृण दाबि दाँत सों दुखित पुकारत गाई है', 'बसंत', 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान', 'क्रंदन', 'शरणागत पाल कृपाल प्रभो' इत्यादि बड़ी उत्तम तथा भावपूर्ण हैं।

इस प्रसंग में अधिक कहने का स्थान नहीं है। आगे चल कर उनकी कविताओं का जो संग्रह है और उन पर छोटी छोटी जो टिप्पणियाँ की गई हैं उनसे वाचकों का मनोविनोद होगा और उनसे वे स्वयं प्रतापनारायण जी की नैसर्गिक सरसता का अंदाज़ा कर सकेंगे।

हाँ, इतना कहेंगे कि मिश्र जी उस प्रकार के कवियों में हैं जिनमें जन्म-सिद्ध सहृदयता तथा काव्योचित मार्दव रहता है, परंतु साथ ही साथ जिनके चित्त में सामाजिक हित-प्रेरणा के भाव अधिक बलवान् रहते हैं। एवं, यदि वे ईश्वर-दत्त काव्य-प्रतिभा का उपयोग करते हैं तो इस उद्देश्य से ही करते हैं कि अपनी कृतियों द्वारा समाज का नैतिक कल्याण हो। इस

नैतिक उद्देश्य की प्रबलता के कारण ऐसे पुरुष कोरे आत्मानंद के लिए कविता कम करते हैं।

प्रतापनारायण जी में यदि शिक्षा देने की इच्छा इतनी प्रबल न रही होती तो संभव है कि वे व्रजभाषा के एक बड़े कवि हुए होते और सचमुच भारतेंदु के जोड़ के होते।

'छोटे मोटे कवि हम भी हैं और नागरी का कुछ दावा भी रखते हैं' उनका यह कहना केवल उनकी नम्रता का द्योतक है। हिंदी-साहित्य के निर्माणकर्ताओं में उनका स्थान ऊँचा रहेगा और उनकी सहृदयता, विनोद-प्रियता, उनका लिखन-चातुर्य ये सब बातें चिरस्मरणीय रहेंगी।

साहित्यिक निबंध

आप ।

ले भला बतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आपही हैं । यह कहां की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढँग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण-संपादक हैं, अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियां साहब, आप निरे साहब हैं । आप क्या हैं ? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है । वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुंटिहई अंगरखी (मीरजई), सीधी मांग, विलायती चाल, लम्बी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए,"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसी लिए कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं वा नहीं ? जिस 'आप' को आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन रात मुंह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है । जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, और क्या है । पर इतना कह देने से न हमीं

संतुष्ट होंगे न आपही के शब्दशास्त्र ज्ञान का परिचय होगा, इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नक़ल है। हम तुम संस्कृत के अहं त्वं का अपभ्रंश हैं, यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है? किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है?

हुज़ूर की मुलाज़मत से अक़्ल ने इस्तेअफ़ा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ़्ज़े फ़ारसी या अरबीस्त," अथवा "ओः इटिज़ एन इंगलिश वर्ड," जब यह नहीं है तो ख़ाहमख़ाह यह हिंदी शब्द है, पर कुछ सिर पैर मूड़ गोड़ भी है कि योंहीं? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—'अप-एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत,' तथा हिन्दी में पानी और फ़ारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुवा करता है, जैसे "पानी उतरि गा तरवारिन को उइ करछुलि के मोल बिकायं", तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर बिसुऔते (वेश्या से भी) बहि जांय," और फ़ारसी में 'आबरू ख़ाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवैगा, पर खींचखांच कर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, "आप" ही के सुर्ख़ाब का पर कहाँ लगा है? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुंह से आप आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी पानी हो जायंगे, और फिर कभी यह शब्द मुंह पर भी न लावेंगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदां मुलाक़ाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती

है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया, पर वह 'आप' थे, क्यों मानने लगे? इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुंह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी तैसी? यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते? प्यार के साथ तू कहने में जितना स्वादु आता है उतना बनावट से आप सांप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, बरंच नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थ का है, और न इसका आशय स्नेह-सम्बद्ध है। किसी जले भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरी घनानन्द जी की यह सवैया है—"आपही तौ मन हेरि हर्‍यो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशा-पूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

संस्कृत और फ़ारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं

करते। पर इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइये, और न लगै तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहां तक कि न्यायशास्त्र में प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द) के अन्तर्गत शाब्द प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सब के उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर का द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायँ, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सन्मान समझेंगे जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहां के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे

हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ का सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान् हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बात करनेवालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहां भी शब्द और अर्थ वही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आपही (आप्त ही) समझता है, और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेगें' अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य सम्पादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के

अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं के पापा (पिता) पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हाँ, इसके समझने समझाने में भी जी ऊबे तो अंगरेज़ी के एबाट (Abot महंत) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों अकार का स्थानापन्न A है, और "पकार" को "बकार" से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो "तकार" हुई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे 'आप' वरंच शुद्ध आप्त से बने हैं।

हमारे प्रान्त में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई २ लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है, मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिन्दू-सन्तान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अंगरेज़ों की तकार और फ़ारस वालों की टकार नहीं है कि मुहीं से न निकले, और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांगा स्त्री और ख़स की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हां, आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में "पकार" (पे) नहीं होती। सौ बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले

हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फ़कार' से बदल देते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह पारसी-फ़ारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब-बवक्ते शब तथा तंगआमद-बतंगआमद इत्यादि, और शब्द के आदि की ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है जैसे अमावस का मावस, (सतसई आदि ग्रंथों में देखो) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि। अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि की वृद्धि वा लोप भी हुवा ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय वा आप ही के उलट फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गये न, कि आप क्या हैं ? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं ! हां, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहां से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगियेगा कि आप "को हैं ? कहां के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे "शाव ! आप न समझो तो आपां को के पड़ी छै।" ऐं ! अब भी नहीं

समझे ? वाह रे आप !

युवावस्था ।

जैसे धरती के भागों में वाटिका सुहावनी होती है, ठीक वैसे ही मनुष्य की अवस्थाओं में यह समय होता है। यदि परमेश्वर की कृपा से धन-बल और विद्या में त्रुटि न हुई तौ तो स्वर्ग ही है, और जो किसी बात की कसर भी हुई तो आवश्यकता की प्राबल्यता यथासाध्य सब उत्पन्न कर लेती है। कर्तव्या-कर्तव्य का कुछ भी विचार न रखके आवश्यकता-देवी जैसे तैसे थोड़ा बहुत सभी कुछ प्रस्तुत कर देती हैं। यावत् पदार्थों का ज्ञान, रुचि और स्वादु इसी में मिलता है। हम अपने जीवन को स्वार्थी, परोपकारी, भला, बुरा, तुच्छ, महान् जैसा चाहें वैसा इसी में बना सकते हैं। लड़काईं में मानो इसी अवसर के लिए हम तय्यार होते थे, बुढ़ापे में इसी काल की बचत से जीवन-यात्रा होगी। इसी समय के काम हमारे मरने के पीछे नेकनामी और बदनामी का कारण होंगे।

पूर्व-पुरुषों के पदानुसार बाल्यावस्था में भी यद्यपि हम पंडितजी, लालाजी, मुन्शीजी, ठाकुर साहब इत्यादि कहाते हैं, पर वह ख्याति हमें फुसलाने मात्र को है। बुढ़ापे में भी बुढ़ऊ बाबा के सिवा हमारे सब नाम सांप निकल जाने पर लकीर पीटना है। हम जो कुछ हैं, हमारी जो निजता है, हमारी निज

की जो करतूत है, वह इसी समय है। अतः हमें आवश्यक है कि इस काल की क़द्र करने में कभी न चूकें। यदि हम निरे आलसी रहे तो हम युवा नहीं जुवां हैं, अर्थात् एक ऐसे तुच्छ जन्तु हैं कि जहां होंगे वहां केवल मृत्यु के हाथ से जीवन समाप्त करने भर को! और यदि निरे ग्रह-धंधों में लगे रहे तो भी बैल की भांति जुवा (युवा-काल) ढोया। अपने लिए श्रम ही श्रम है, स्त्री पुत्रादि दस पांच हमारे किसान चाहे भले ही कुछ सुखानुभव करलें।

यदि, ईश्वर बचाए, हम इंद्रियाराम हो गये तौ भी, यद्यपि कुछ काल के लिए, हम अपने को सुखी समझेंगे, कुछ लोग अपने मतलब को हमारी प्रशंसा और प्रीति भी करेंगे, पर थोड़े ही दिन में उस सुख का लेश भी न रहेगा, उलटा पश्चात्ताप गले पड़ेगा, बरंच तृष्णा-पिशाची अपनी निराशा नामक सहोदरा के साथ हमारे जीवन को दुःखमय कर देगी। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह षड्वर्ग यद्यपि और अवस्थाओं में भी रहते ही हैं, पर इन दिनों पूर्ण बल को प्राप्त हो के आत्म-मन्दिर में परस्पर ही युद्ध मचाए रहते हैं, बरंच कभी २ कोई एक ऐसा प्रबल हो उठता है कि अन्य पांच को दबा देता है, और मनुष्य को तो पांच में से जो बढ़ता है वही पागल बना देता है। इसी से कोई २ बुद्धिमान कह गए हैं कि इनको बिल्कुल दबाए रहना चाहिए, पर हमारी समझ में यह असम्भव न हो तो महा कठिन, बरंच हानिजनक तो है ही।

काम शरीर का राजा है, यह सभी मानते हैं, और क्रोधादि पांचो उसके भाई वा सेनापति हैं। यदि यह न होने के बराबर हों तो मानो हृदय, नगर, अथवा जीवन, देश ही कुछ न रहा। किसी राजवर्ग के सर्वथा वशीभूत होके रहना गुलाम का काम है वैसे ही राज-पारिषद् का नाश कर देने की चेष्टा करना भी मूर्ख, अदूरदर्शी अथवा आततायी का काम है। सच्चा बुद्धिमान, वास्तविक वीर वा पुरुषरत्न हम उसको कहेंगे जो इन छहों को पूरे बल में रखके इनसे अपने अनुकूल काम ले। यदि किसी ने बलनाशक औषधि आदि के सेवन से पुरुषार्थ का और "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" का दृढ़ विश्वास कर के कामनाओं का नाश कर दिया, और यावत् सांसारिक सम्बन्ध छोड़ के सब से अलग हो रहा तो कदाचित् षड्वर्ग का उसमें अभाव हो जाय; -यद्यपि संभव नहीं है-पर उसका जीवन मनुष्य-जीवन नहीं है।

धन्य जन वे हैं जो काम-शक्ति को अपनी स्त्री के पूर्ण सुख देने और बलिष्ठ संतान के उत्पन्न करने के लिए रक्षण और वर्धन करने में लगावें, कामना अर्थात् प्रगाढ़ इच्छा प्रेममय परमात्मा के भजन और देश-हित की रक्खें, क्रोध का पूर्ण प्राबल्य अपने अथच देश-भाइयों के दुःख अथच दुर्गुण पर लगा दें, (अर्थात् उन्हें कच्चा खा जाने की नियत रक्खें) लोभ सद्विद्या और सद्गुण का रक्खें, मोह अपने देश, अपनी भाषा और अपनेपन का करें। जान जाय पर इन्हें न जाने दें। अपने आर्यत्व, अपने पूर्वजों के यश का पूर्ण मद (अहंकार) रक्खें।

इसके आगे संसार को तुच्छ समझें, दूसरे देशवालों में चाहे जैसे उत्कृष्ट गुण हों उनको कुछ न गिनके अपने में ऐसे गुण संचय करने का प्रयत्न करें कि दूसरों के गुण मंद पड़ जायँ। मात्सर्य का ठीक २ बर्ताव यह है। जो ऐसा हो जाय वही सच्चा युवक, सच्चा जवान और सच्चा जवांमर्द है। उसी की युवावस्था सफल है। पाठक तुम यदि बालक वा वृद्ध न हो तो सच्चा जवान बनने का शीघ्र उद्योग करो।

भौं।

निश्चय है कि इस शब्द का रूप देखते ही हमारे प्यारे पाठकगण निरर्थक शब्द समझेंगे, अथवा कुछ और ध्यान देंगे तो यह समझेंगे कि कार्तिक का मास है, चारो ओर कुत्ते तथा जुवारी भौं भौं भौंकते फिरते हैं, सम्पादकी की सनक में शीघ्रता के मारे कोई और विषय न सूझा तो यही "भौं" अर्थात भूंकने के शब्द को लिख मारा! पर बात ऐसी नहीं है। हम अपने वाचकवृंद को इस एक अक्षर में कुछ और दिखाया चाहते हैं। महाशय! दर्पण हाथ में लेके देखिये, आंखों की पलकों के ऊपर श्याम-वर्ण-विशिष्ट कुछ लोम हैं। बरुनी न समझिएगा, माथे के तले और पलकों के ऊपरवाले रोम-समूह। जिनको अपनी हिन्दी में हम भौं, भौंह, भौंहैं कहते हैं, संस्कृत के पंडित भ्रू बोलते हैं। फ़ारसवाले अबरू और अंगरेज़ लोग 'आइब्रो' कहते हैं,

उन्हीं का वर्णन हमें करना है।

यह न कहिएगा कि थोड़े से रोएं हैं, उनका वर्णन ही क्या ? नहीं। यह थोड़े से रोएँ बहुत से सुवर्ण के तारों से अधिक हैं। हम गृहस्थ हैं, परमेश्वर न करे, किसी बड़े बूढ़े की मृत्यु पर शिर के, दाढ़ी के और सर्वोपरि मूछों तक के भी बाल बनवा डालेंगे, प्रयाग जी जायँगे तौ भी सर्वथा मुंडन होगा, किसी नाटक के अभिनय में स्त्री-भेष धारण करेंगे तौभी घुटा डालेंगे, संसार-विरक्त होके सन्यास लेंगे तौ भी भद्र कराना पड़ेगा, पर चाहे जग-परलौ-हो जाय, चाहे लाख तीर्थ घूम आवें, चाहे दुनियाभर के काम बिगड़ जायं, चाहे जीवनमुक्त ही का पद क्यों न मिल जाय, पर यह हमसे कभी न होगा कि एक छूरा भौंहों पर फिरवा लें। सौ हानि, सहस्र शोक, लक्ष अप्रतिष्ठा हो तौ भी हम अपना मुंह सब को दिखा सकते हैं, पर यदि किसी कारण से भौंहें सफाचट्ट हो गईं तो परदेनशीनी ही स्वीकार करनी पड़ेगी। यह क्यों ? यह यों कि शरीरभरे की शोभा मुख-मंडल है, और उसकी शोभा यह हैं। उस परम कारीगर ने इन्हें भी किस चतुरता से बनाया है कि बस, कुछ न पूछो। देखते ही बनता है। कविवर भर्तृहरिजी ने—

"भ्रूचातुर्यं कुंचिताक्षा, कटाक्षा, स्निग्धा, वाचो लज्जिता चैवहासः, लीला मंदं प्रस्थितं च स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधंच"— लिखकर क्या ही सच्ची बात दिखलाई है कि बस, अनुभव ही से काम रखती है। कहे कोई तो क्या कहे, निस्संदेह, स्त्रियों के

लिए भूषण है, क्योंकि उनकी परम शोभा है, और रसिकों को वशीभूत करने के हेतु सुन्दरियों का शस्त्र है। यह बात सहृदयता से सोचो तो चित्त में अगणित भाव उत्पन्न होंगे, देखो तो भी अनेक स्वादु मिलेंगे। पर जो कोई पूछे कि वह क्या है तो भ्रू-चातुर्य्य अर्थात भौंहों में भरी हुई चतुरता से अधिक कुछ नाम नहीं ले सकते। यदि कोई उस भ्रू-चातुर्य्य का लक्षण पूछे तो बस, चुप। हाय २ कवियों ने तो भौंह की सूरतमात्र देखके यही दिया है, पर रसिकों के जी से कोई पूछे! प्रेमपात्र की भौंह का तनक हिल जाना मनके ऊपर सचमुच तलवार ही का काम कर जाता है। फिर भ्रकुटी-कृपाण क्यों न कहें। सीधी चितवन बान ही सी कलेजे में चुभ जाती है। पर इसी भ्रू-चाप की सहाय से श्री जयदेवस्वामी का यह पवित्र वचन—

'शशि' मुखि! तव भाति भंगुर भ्रू
युवजन मोह कराल कालसर्पी,

—उनकी आंखों से देखना चाहिए, जिनके प्रेमाधार कोप के समय भौंह सकोड़ लेते हैं। आहा हा, कई दिन दर्शन न मिलने से जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा हो उसे वह हृदयाभिराम की प्रेमभरी चितवन के साथ भावभरी भृकुटी ईद के चांद से अनंत ही गुणी सुखदायिनी होती है। कहां तक कहिए, भृकुटी का वर्णन एक जीभ से तो होना ही असंभव है। एक फ़ारसी का कवि यह वाक्य कहके कितनी रसज्ञता का अधिकारी है कि रसिकगण को गूंगे का गुड़ हो रहा है—भृकुटी-रूपी छंद-

पंक्ति के सहस्रों सूक्ष्म अर्थ हैं, पर उन अर्थों को बिना बाल की खाल निकालनेवालों अर्थात् महा तीव्र बुद्धिवालों के कोई समझ नहीं सकता।*

जब यह हाल है कि महा तीव्र-बुद्धि केवल समझ सकते हैं तो कहने की सामर्थ्य तो है किसे? संस्कृत, भाषा, फ़ारसी और उर्दू में काव्य का ऐसा कोई ग्रन्थ ही नहीं है जिसमें इन लोमराशि का वर्णन न हो।

अतः हम यह अध्याय अधिक न बढ़ाके इतना और निवेदन करेंगे कि हमारे देश-भाई विदेशियों की वैभवोन्मादरूपी वायु से संचालित भ्रकुटी-लता ही को चारो फलदायिनी समझके न निहारा करें, कुछ अपना हिताहित आप भी विचारें। यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं तौ भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात २ पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध होके, वीरता से भौंहें तानके देश-हित में सन्नद्ध होजायं, अपने देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व-पुरुषों के रुज़गार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे। उसके सहज भृकुटी-विलास में अनंत कोटि ब्रह्मांड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।

---

* हज़ारां मानिए बारीक बाशद बैते अब्रूरा। बग़ैरज़ मूशिगाफ़ां कस न फ़हमद मानिए ऊरा।

खुशामद।

यद्यपि यह शब्द फ़ारसी का है, पर हमारी भाषा में इतना घुल-मिल गया है कि इसके ठीक भाव का बोधक, कोई हिन्दी का शब्द ढूंढ़ लावें तो हम उसे बड़ा मर्द गिनें। 'मिथ्या प्रशंसा', 'ठकुर सुहाती' इत्यादि शब्द गढ़े हुए हैं। इनमें वह बात ही नहीं पाई जाती जो इस मज़ेदार मोहनीमंत्र में है। कारण इसका यह जान पड़ता है कि हमारे पुराने लोग सीधे, सच्चे, निष्कपट होते रहे हैं। उन्हें इसका काम ही बहुत कम पड़ा था। फिर ऐसे शब्द के व्यवहार का प्रयोजन क्या? जब से गुलाब का फूल, उर्दू की शीरीं ज़बान इत्यादि का प्रचार हुआ तभी से इस करामाती लटके का भी जौहर खुला। आहाहा!! क्या कहना है। हुज़ूर खुश हो जायं और बंदे की आमद हो। यारों के गुलछर्रे उड़ें। फिर इसके बराबर सिद्ध और काहे में है। आप चाहें कैसे कड़े मिज़ाज़ हों, रुक्खण हों, मक्खीचूस हों जहां हम चार दिन झुक झुक के सलाम करेंगे दौड़-दौड़ आपके पास आवेंगे आपकी हां में हां मिलावेंगे, आपको इंद्र, वरुण, हातिम, करण, सूर्य्य, चंद्र-लैली, शीरीं इत्यादि बनावेंगे आप को ज़मीन पर से उठा के झंडे पर चढ़ावेंगे, फिर बतलाइए तो आप कब तक राह पर न आवेंगे? हम चाहे जैसे निर्बुद्धि, निकम्मे, अविद्वान्, अकुलीन क्यों न हों, पर यदि हम लोक-लज्जा, परलोक-भय, सब को तिलांजली देके आप ही को अपना

पिता, राजा, गुरू, पति, अन्नदाता कहते रहेंगे तो इसमें कुछ मीन-मेष नहीं है कि आप हमें अपनावेंगे और हमारे दुःख दरिद्र मिटावेंगे।

अजी साहब, आप तो आप ही हैं, हम दीनानाथ, दीनबन्धु, पतित-पावन कह कह के ईश्वर तक को फुसला लेने का दावा रखते हैं। दूसरे किस खेत की मूली हैं, ख़ुशामद वह चीज़ है कि पत्थर को मोम बनाती है, बैल को दुह के दूध निकालती है। विशेषतः दुनियादार स्वार्थपरायण उदरंभर लोगों के लिये तो इससे बढ़ के कोई रसायन ही नहीं है। जिसे यह चतुराक्षरी मंत्र न आया उसकी चतुरता पर छार है, विद्या पर धिक्कार है और गुणों पर फटकार है। यदि कैसा ही सज्जन, सुशील, सहृदय, निर्दोष, न्यायशील, नम्रस्वभाव, उदार, सद्-गुणागार, साक्षात सतयुग का औतार क्यों न हो, पर ख़ुशामद न जानता हो तो इस ज़माने में तो उसकी मट्टी ख़्वार है। मरने के पीछे चाहे भले ही ध्रुव जी के मुकुट का मणि बनाया जाय। और जो ख़ुशामद से रीझता न हो उसे भी हम मनुष्य तो नहीं कह सकते पत्थर का टुकड़ा, सूखे काठ का कुंदा या परमयोगी महावैरागी कहेंगे। एक कवि का वाक्य है, कि 'बार पचै माछी पचै पाथर हू पचि जाय, जाहि ख़ुशामद पचि गई ताते कछु न बसाय'।

सच है ख़ुशामदी लोगों की बातें और घातें ही ऐसी होती हैं कि बड़े बड़ों को लुभा लेती हैं। सब जानते हैं कि यह

खुशामद ।

यद्यपि यह शब्द फ़ारसी का है, पर हमारी भाषा में इतना घुल-मिल गया है कि इसके ठीक भाव का बोधक, कोई हिन्दी का शब्द ढूंढ़ लावें तो हम उसे बड़ा मर्द गिनें । 'मिथ्या प्रशंसा', 'ठकुर सुहाती' इत्यादि शब्द गढ़े हुए हैं । इनमें वह बात ही नहीं पाई जाती जो इस मज़ेदार मोहनीमंत्र में है । कारण इसका यह जान पड़ता है कि हमारे पुराने लोग सीधे, सच्चे, निष्कपट होते रहे हैं । उन्हें इसका काम ही बहुत कम पड़ा था । फिर ऐसे शब्द के व्यवहार का प्रयोजन क्या ? जब से गुलाब का फूल, उर्दू की शीरीं ज़बान इत्यादि का प्रचार हुआ तभी से इस करामाती लटके का भी जौहर खुला । आहाहा !! क्या कहना है । हुज़ूर खुश हो जायं और बंदे की आमद हो । यारों के गुलछर्रे उड़ें । फिर इसके बराबर सिद्ध और काहे में है । आप चाहें कैसे कड़े मिज़ाज हों, रुक्खण हों, मक्खीचूस हों जहां हम चार दिन झुक झुक के सलाम करेंगे दौड़-दौड़ आपके पास आवेंगे आपकी हां में हां मिलावेंगे, आपको इंद्र, वरुण, हातिम, करण, सूर्य्य, चंद्र-लैली, शीरीं इत्यादि बनावेंगे आप को ज़मीन पर से उठा के झंडे पर चढ़ावेंगे, फिर बतलाइए तो आप कब तक राह पर न आवेंगे ? हम चाहे जैसे निर्बुद्धि, निकम्मे, अविद्वान्, अकुलीन क्यों न हों, पर यदि हम लोक-लज्जा, परलोक-भय, सब को तिलांजली देके आप ही को अपना

पिता, राजा, गुरू, पति, अन्नदाता कहते रहेंगे तो इसमें कुछ मीन-मेष नहीं है कि आप हमें अपनावेंगे और हमारे दुःख दरिद्र मिटावेंगे।

अजी साहब, आप तो आप ही हैं, हम दीनानाथ, दीनबन्धु, पतित-पावन कह कह के ईश्वर तक को फुसला लेने का दावा रखते हैं। दूसरे किस खेत की मूली हैं, ख़ुशामद वह चीज़ है कि पत्थर को मोम बनाती है, बैल को दुह के दूध निकालती है। विशेषतः दुनियादार स्वार्थपरायण उदरंभर लोगों के लिये तो इससे बढ़ के कोई रसायन ही नहीं है। जिसे यह चतुराक्षरी मंत्र न आया उसकी चतुरता पर छार है, विद्या पर धिक्कार है और गुणों पर फटकार है। यदि कैसा ही सज्जन, सुशील, सहृदय, निर्दोष, न्यायशील, नम्रस्वभाव, उदार, सद्-गुणागार, साक्षात सतयुग का औतार क्यों न हो, पर ख़ुशामद न जानता हो तो इस ज़माने में तो उसकी मट्टी ख्वार है। मरने के पीछे चाहे भले ही ध्रुव जी के मुकुट का मणि बनाया जाय। और जो ख़ुशामद से रीझता न हो उसे भी हम मनुष्य तो नहीं कह सकते पत्थर का टुकड़ा, सूखे काठ का कुंदा या परमयोगी महाबैरागी कहेंगे। एक कवि का वाक्य है, कि 'बार पचै माछी पचै पाथर हू पचि जाय, जाहि ख़ुशामद पचि गई ताते कछु न बसाय'।

सच है ख़ुशामदी लोगों की बातें और घातें ही ऐसी होती हैं कि बड़े बड़ों को लुभा लेती हैं। सब जानते हैं कि यह

अपने मतलब की कह रहा है, पर लच्छेदार बातों के मायाजाल में फँस बहुधा सभी जाते हैं। क्यों नहीं? एक लेखे पूछो तो खुशामदी भी एक प्रकार के ऋषि मुनि होते हैं। अभी हम से कोई ज़रा सा नखरा करे तो हम उरद के आटे की भांति ऐंठ जांय। हमारे एक उजड्ड साथी का कथन ही है कि 'वरं हलाहल पानं सद्यः प्राण हरं बिषं। नहिं दुष्ट धनाढ्यस्य भ्रूभृंग कुटिला ननः।' पर हमारे खुशामदाचार्य्य महानुभाव सब तरह की भिड़की, निन्दा, कुबातें सहने पर भी हाथ ही जोड़ते रहते हैं। भला ऐसे मन के जीतनेवालों के मनोरथ क्यों न फलें। यद्यपि एक न एक रीति से सभी सब की खुशामद करते हैं, यहां तक कि जिन्होंने सब तज हर भज का सहारा करके बनवास अंगीकार किया है, कंद मूल से पेट भरते हैं, भोज पत्रादि से काया ढकते हैं, उन्हें भी गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करनी पड़ती है। फिर साधारण लोग किस मुँह से कह सकते हैं कि हम खुशामद नहीं करते। बरंच यह कहना कि हमें खुशामद करनी नहीं आती यह आलादरजे की खुशामद है। जब आप अपने चेले को, नौकर को, पुत्र को, स्त्री को, खुशामदी को नाराज़ देखते हैं और उसे राज़ी न रखने में धन, मान, सुख, प्रतिष्ठादि की हानि देखते हैं तब कहते हैं क्यों? अभी सिर से भूत उतरा है कि नहीं? यह भी उलटे शब्दों में खुशामद है। सारांश यह कि खुशामद से ख़ाली कोई नहीं है। पर खुशामद करने की तमीज़ हर एक को नहीं आती। इतने बड़े हिन्दुस्तान

भर में केवल चार छः आदमी खुशामद के तत्ववेत्ता हैं। दूसरों की क्या मजाल है कि खुशामदी की पदवी ग्रहण कर सकें। हम अपने पाठकों को सलाह देते हैं कि यदि अपनी उन्नति चाहते हों तो नित्य थोड़ा थोड़ा खुशामद का अभ्यास करते रहें। देशोन्नति फेशोन्नति के पागलपन में न पड़ें नहीं तो हमारी ही तरह भकुआ बने रहेंगे।

धोखा।

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तौ भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाय ? बरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह

सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सब से प्रथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, बरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योस्य वक्ता" "चित्रन्देवानमुद्गातनीक" इत्यादि कहा है, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को माटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-बपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है, जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात धोखे का अभाव कहां ?

वेदांती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहां तक

कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भलीभांति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट २ कर रोने लगे। इसपर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है ! भ्रमोत्पादक भ्रम स्वरूप भगवान के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जबतक भ्रम है तभी तक संसार है, बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं ! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं ! परमेश्वर सब का भरम बनाये रक्खे, इसी में सब कुछ है। जहां भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी ख़ाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय," इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वहीं थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छांटनो सत्यानाशी की जड़ है ! ज्ञान

की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहां पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख २ कर सुख प्राप्त करते हैं! विचार कर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किस के हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जायं, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तौ भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूंदि गईं आंखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सब से सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूंजी गंवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुबिधा, सुयश से वंचित रह जावें! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी?

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरज़े

दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट खट, टन टन आवाज़ आ रही है, जहां उसके पुरज़ों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक २ बना हुवा है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहां इसके क्रम में व्यतिक्रय हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव? कैसी आत्मा? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततागत्वा योंही कहा जा सकता है! इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और वैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी २ बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदासजी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष-तया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खानेवाला मूर्ख और

धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न २ चला जाता है, नहीं तो ढिचर २ होने लगे, बरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण व श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती हैं ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गंवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन क़लई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बंध में हो ही जाया करती हैं।

इसीसे साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग़ नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्प सामर्थ्यी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निंदा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिये, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुंह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़

हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिये तो क्या भीख मांग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइयेगा, वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप-भागी होइयेगा! योंही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आपही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किंतु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग दोख दूर हो जायंगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तौ भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाज़ी कोई भांप न सके, और तुम्हारा बलि पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथखंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता

के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरू-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा ! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व—यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज़ का पहिचानना साधारण समझवालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़कर आप से भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं, और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहिएगा, नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

परीक्षा ।

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इसका सामना किसी का पड़े! महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी, जिसको आज भी सब क्रिस्तान पढ़ते हैं, उसमें एक यह भी भाव है कि "हमें परीक्षा में न डाल, वरंच बुराई से बचा"। परमेश्वर करे सब की मुंदी भलमंसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहिले कांप उठता है, फिर उसके यावत् परमाणु, सब छितर बितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना है! हमारे पाठकों में कदाचित् ऐसा कोई न होगा जिसने बाल्यावस्था में कहीं पढ़ा न हो। महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए, जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे। क्या सोते जागते, उठते बैठते हर घड़ी एक चिन्ता चित्त पर न चढ़ी रहती थी। पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तौ भी दिनरात देवी-देवता मनाते बीतता था। देखिए, क्या हो, परमेश्वर कुशल करे। सच है, यह अवसर ही ऐसा है। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग्य में नहीं है!

जिन्हें हम आज बड़ा पंडित, धनी, बड़ा बली, महा देश-

हितैषी, महा सत्यसंध, महा निष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनकी ठीक ठीक परीक्षा करने लगें तो कदाचित् फ़ी सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें ? वेश्याओं के यहां यदि दो चार मास आपकी बैठक रही हो तो देखा होगा, कैसे २ प्रतिष्ठित, कैसे २ सभ्य, कैसे कैसे धर्मध्वजी वहां जाकर क्या क्या लीला करते हैं ! यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रगट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी दीख पड़ती है वह गुप्तरूपेण कै जनों में कहां तक है ! जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है उनके अन्तःकरण की गति पर हमें दया आती है। हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं उस सर्वज्ञ सर्वांतरयामी से छिपा नहीं है। हम पापात्मा, पापसंभव, भला उसके आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे ?

संसार में संसारी जीव निस्सन्देह एक दूसरे को परीक्षा न करें तो काम न चले, पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय संभव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है, और यह बात यदि निस्सन्देह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा १०० बार कर लीजिए उसकी ओर से भी सन्देह बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है !

फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उल्झन का विषय नहीं है। कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं, थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है, थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडम्बर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचंभा है। सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है, अतः ठीक परीक्षा पर जिसकी क़लई न खुल जाय उसी के धन्य भाग ! हमने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ बदनाम रहे, बीसियों हानियां सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गये, उनके दोष अपने ऊपर ले लिए, और वे भी सदा हमारी बात २ पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, सदा कहते रहे, जहां तेरा पसीना गिरेगा वहां हमारा मृत शरीर पहिले गिर लेगा, पर जब समय आया, कि ग़ैरों के सामने हमारी इज़्ज़त न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने कटी उङ्गली पर न मूता !

यदि कोई कहे कि तुम कौन बड़े बुद्धिमान हो जो तुम्हारे तजरबे (अनुभव) पर हम निश्चय कर लें, तो हम मान लेंगे; पर यह कहने का हमें ठौर बना है कि मुद्दत तक राजा शिवप्रसादजी को सहस्रों ने क्या समझा, और अन्त में क्या निकले ! सैयदअहमद साहब को पहिले बहुतेरों ने निश्चय किया कि देशमात्र के हितैषी हैं, पीछे से यह खुला कि केवल निज सहधर्मियों के शुभचिंतक हैं। यह भी अच्छा था; पर नेशनल कांग्रेस में यह सिद्ध होगया कि "योसिसोसि तव चरण नमामी"।

"हिन्दी-प्रदीप" से ज्ञात हुआ कि दिहाती भाई भी सैयद बाबा पर मधुर बानी की शीरीनी चढ़ाते हैं। हम भी मानते हैं कि कांग्रेस अभी ३ बरस की बच्ची है, उस पर रक्षा का हाथ रखना ही उन्हें योग्य है, क्योंकि यह हिन्दू-मुसलमान दोनों की हितैषिणी है, ऐसे २ बहुत से दृष्टान्त अनुमान है कि, सभी को मिला करते होंगे जिनसे सिद्ध है कि परीक्षा का नाम बुरा ! राम न करे कि इसकी प्रचंड आंच से किसी की क़लई खुले ! एक आर्य कवि का अनुभूत वाक्य है—

'परत साबिका साबुनहि देत खीस सी काढ़ि'

एक उर्दू कवि का यह वचन कितना हृदयग्राही है—

'इस शर्त पर जो लीजे तो हाज़िर है दिल अभी,
रंजिश न हो, फ़रेब न हो, इम्तिहां न हो।'

कहांतक कहें, परीक्षा सब को खलती है ! क्या ही अच्छा होता जो सब से सब बातों में सच्चे होते, और जगत में परीक्षा का काम न पड़ा करता ! वह बड़भागी धन्य है जो अपना भरमाला लिये हुए जीवन-यात्रा को समाप्त कर दे।

दांत।

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी सी छोटी २ हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने यह कौशल दिखलाया है कि किस के मुंह में दांत हैं जो पूरा २ वर्णन कर सके। मुख की सारी

शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक, (ज़ुल्फ़) भ्रू (भौं) तथा बरुणी आदि की छबि लिखने में बहुत २ रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूंछिए तो इन्हीं की शोभा से सब की शोभा है। जब दांतों के बिना पुपला सा मुंह निकल आता है, और चिबुक (ठोढ़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती हैं उस समय सारी सुघराई मट्टी में मिल जाती है। नैन-बाण की तीक्ष्णता, भ्रू-चाप की खिंचावट और अलक-पन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता।

कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है, वह बहुत ठीक है, बरंच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है खाने का मज़ा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगोके गले के नीचे उतार देने के दुनियां-भर की चीज़ों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शनमात्र हमसे सुन लीजिए :—

शृङ्गार का तो कहना ही क्या है! ऐसा कवि शायद कोई ही हो जिसने सुन्दरियों की दन्तावली तथा उनके गोरे गुदगुदे गोल कपोल पर रद-छद (दन्त-दाग़) के वर्णन में अपने क़लम की कारीगरी न दिखाई हो! आहा हा! मिस्सी तथा पान-रङ्ग रंगे अथवा योंही चमकदार चटकीले दांत जिस समय बातें

करने तथा हंसने में दृष्टि आते हैं उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूंगे को मिठाई है! हास्य रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता जब तक हंसते हंसते दांत न निकल पड़ें। करुणा और रौद्र रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दांत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं, एवं अपनी दीनता दिखाके दूसरे को करुणा उपजाने में दांत दिखाए जाते हैं। रिस में भी दांत पीसे जाते हैं। सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सौन्य अथवा दुःखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दांत लगा रहता है। भयानक रस के लिए सिंह-व्याघ्रादि के दांतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे। वीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दांत देख लीजिए, जिनकी छोटी सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता है। अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख सुनके दांत बाय, मुंह फैलाय के हक्का बक्का रह जाते हैं। शान्त रस के उत्पादनार्थ श्रीशंकराचार्य स्वामी का यह पद महामंत्र है—

अंगंगलितं पलितं मुंडं, दशन-विहीनं जातं तुंडं।
कर धृत कंपित शोभित दंडं भूदपि मुंचत्याशापिंडं।
भज गोविंदं भज गोविंदं गोविंदं भज मूढ़मते। सच है, जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन?

"दांत खियाने खुर घिसे पीठ बोझ नहिं लेइ।"

जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुए, मछली, स्थल के कौआ, कुत्ता आदि दांत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत चित्त से भगवान का भजन न किया तो क्या किया ? आपकी हड्डियां हाथी के दांत तो हई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवैंगी। जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दांत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जबतक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दंतावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहां तक कि बड़े २ कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े २ सुन्दर मुखारबिन्दों पर हमारी मोहर 'छाप' रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित, और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—

"मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़"

हम जानते हैं कि नित्य यह देखके भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिन्दू-मुसलमानों का साथ तन-मन-धन और प्रान-पन से क्यों नहीं देते ? याद रखिए—

'स्थान भ्रष्टा न शोभंते, दंता केशा नखा नराः'।

हां, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है। हंसने के समय मुंह से दांतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता, बरंच एक प्रकार की शोभा होती है।

ऐसे ही आप स्वदेश-चिन्ता के लिए कुछ काल देशान्तर में रह आएं तो आपकी बड़ाई है। पर हां, यदि वहां जाके यहाँ की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दांतों के समान है जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण-विशेष से मुंह के बाहर रह जाते हैं, और सारी शोभा खोके भेड़िए कैसे दांत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दांतों का परदा है, जिसके परदा न रहा, अर्थात् स्वजातित्व की ग़ैरतदारी न रही, उसकी निरलज्ज ज़िंदगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक़ में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देश-भाई, पर सदा हमारे देश-जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं! परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन सुख? हम तो उनकी जैजैकार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दांतकाटी रोटी का बर्ताव (सच्ची गहरी प्रीति) रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशाहित के लिए चाव के साथ दांतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

'कायर कपूत कहाय, दांत दिखाय भारत तम हरौ',

कोई हमारे लेख देख दांतों तले उंगली दबाके सूझबूझ की तारीफ़ करे, अथवा दांत बाय के रह जाय, या अरसिकता-वश यह कह दे कि कहां की दांताकिलकिल लगाई है तो इन

बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दांत जिस ओर लगा है, वह लगा रहेगा, औरों की दंतकटाकट से हमको क्या ?

यदि दांतों के सम्बन्ध का वर्णन किया चाहें तो बड़े बड़े ग्रन्थ रंग डालें, और पूरा न पड़े। आदि देव श्री एकदंत गणेश जी को प्रणाम करके श्री पुष्पदंताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है, उन शिवजी की महिमा, दंतवक्त्र शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें तो कोटि जन्म पार न पावें ! नाली में गिरी हुई कौड़ी को दांत से उठानेवाले मक्खीचूसों की हिजो किया चाहें तौ भी लिखते २ थक जायं। हाथी दांत से क्या २ वस्तु बन सकती हैं ? कलों के पहियों में कितने दांत होते हैं ? और क्या क्या काम देते हैं ? गणित में कौड़ी २ के एक २ दांत तक का हिसाब कैसे लग जाता है ? वैद्यक और धर्मशास्त्र में दंतधावन की क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है ? पद्धतिकारों ने 'दीर्घ दंताक्वचिन्मूर्खा' आदि क्यों लिखा ? किस २ जानवर के दांत किस २ प्रयोजन से किस २ रूप, गुण से विशिष्ट बनाए गए हैं ? मनुष्यों के दांत उजले, पीले, नीले, छोटे, मोटे, लम्बे, चौड़े, घने, खुड़हे कै रीति के होते हैं ? इत्यादि, अनेक बातें हैं, जिनका विचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए। वरंच यह भी कहना ठीक है कि यह बड़ी २ विद्याओं के बड़े २ विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दांतों फूटने के नहीं ! तिसपर भी अकेला आदमी क्या २ लिखे ?

अतः इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते

हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं, अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तिस दांतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दांतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास-योग्य नहीं है। हाथी के दांत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

'द'।

हमारी और फ़ारसवालों की वर्णमालाभर में इससे अधिक अप्रिय, कर्णकटु और अस्निग्ध अक्षर, हम तो जानते हैं, और न होगा। हमारे नीति-विदाम्बर अंग्रेज़ बहादुरों ने अपनी वर्ण-माला में, बहुत अच्छा किया, जो इसे नहीं रक्खा। नहीं उस देश के लोग भी देना सीख जाते तो हमारी तरह निष्कंचन हो बैठते। वहां के चतुर लोगों ने बड़ी दूरदर्शिता करके इस अक्षर के ठौर पर 'डकार' अर्थात् 'डी' रक्खी है, जिसका अर्थ ही डकार जाना, अर्थात् यावत् संसार की लक्ष्मी, जैसे बने वैसे, हज़म कर लेना। जिस भारत-लक्ष्मी को मुसलमान सातसै वर्ष में अनेक उत्पात करके भी न ले सके उसे उन्होंने सौ वर्ष में धीरे धीरे ऐसे मज़े के साथ उड़ा लिया कि हंसते खेलते विलायत जा पहुंची!

इधर हमारे यहां इस 'दकार' का प्रचार देखिए तो नाम के

लिए देओ' यश के लिए देओ, देवताओं के निमित्त देओ, पितरों के निमित्त देओ, राजा के हेतु देओ, कन्या के हेतु देओ, मज़े के वास्ते देओ, अदालत के ख़ातिर देओ, कहां तक कहिए, हमारे बनवासी ऋषियों ने दया और दान को धर्म का अंग ही लिख मारा है! सब बातों में देव, और उसके बदले लेव क्या? झूठी नामवरी, कोरी वाह वाह, मरणानन्तर स्वर्ग, पुरोहितजी का आशीर्वाद, रुज़गार करने की आज्ञा वा ख़िताब, क्षणिक सुख इत्यादि, भला क्यों न देश दरिद्र हो जाय! जहां देना तो सात समुद्र पारवालों तथा सात स्वर्गवालों तक को तन, मन, धन और लेना मनमोदकमात्र! बलिहारी इस दकार के अक्षर की! जितने शब्द इससे पाइएगा, सभी या तो प्रत्यक्ष ही विषवत् या परम्परा-द्वारा कुछ न कुछ नाश कर देनेवाले—

दुष्ट, दुःख, दुर्दशा, दास्य, दौर्बल्य, दण्ड, दम्भ, दर्प, द्वेष, दानव, दर्द, दाग़, दग़ा, देव, (फ़ारसी में राक्षस) दोज़ख़, दम का आरज़ा, दरिन्दा, (हिंसक जीव) दुश्मनदार, (सूली) दिक़्क़त इत्यादि, सैकड़ों शब्द आपको ऐसे मिलेंगे जिनका स्मरण करते ही रोंगटे खड़े होते हैं! क्यों नहीं, हिन्दी-फ़ारसी दोनों में इस अक्षर का आकार हंसिया का सा होता है, और बालक भी जानता है कि उससे सिवा काटने चीरने के और काम नहीं निकलता। सर्वदा बन्धन-रहित होने पर भी भगवान का नाम दामोदर क्यों पड़ा कि आप भी रस्सी से बंधे और समस्त व्रजभक्तों को दइया २ करनी पड़ी! स्वर्ग-विहारी देवताओं को

सब सामर्थ्य होने पर भी पुराणों के अनुसार सदा दनुज-कुल से क्यों भागना पड़ा ? आज भी नये मतवालों के मारे अस्तित्व तक में सन्देह है। ईसाइयों की नित्य गाली खाते हैं। इसका क्या कारण है ? पंचपांडव समान वीर-शिरोमणि तथा भगवान कृष्णचन्द्र सरीखे रक्षक होते हुए द्रुपदतनया को केशाकर्षण एवं बनवास आदि का दुःख सहना पड़ा, इसका क्या हेतु ? देश-हितैषिता ऐसे उत्तम गुण का भारतवासी मात्र नाम तक नहीं लेते, यदि थोड़े से लोग उसके चाहनेवाले हैं भी तो निर्बल, निर्धन, बदनाम ! यह क्यों ? दम्पति, अर्थात् स्त्री-पुरुष, वेद, शास्त्र, पुराण, बायबिल, क़ुरान सब में लिखा है कि एक हैं, परस्पर सुखकारक हैं, पर हम ऋषिवंशीव कान्यकुब्जों में एक दूसरे के बैरी होते हैं ! ऐसा क्यों है ? दूध दही कैसे उत्तम, स्वादिष्ट, बलकारक पदार्थ हैं कि अमृत कहने योग्य, पर वर्तमान राजा उसकी जड़ ही काटे डालते हैं ! हम प्रजागण कुछ उपाय ही नहीं करते, इसका क्या हेतु है ? इन सब बातों का यही कारण है कि इन सब नामों के आदि में यह दुरूह 'दकार' है !

हमारे श्रेष्ठ सहयोगी "हिन्दी-प्रदीप" सिद्ध कर चुके हैं कि 'लकार' बड़ी ललित और रसीली होती है। हमारी समझ में उसी का साथ पाने से दीनदयाल, दिलासा, दिलदार, दाल-भात इत्यादि दस पांच शब्द कुछ पसंदीदा हो गये हैं, नहीं तो देवताओं में दुर्गाजी, ऋषियों में दुर्वासा, राजाओं में दुर्योधन

महान् होने पर भी कैसे भयानक हैं। यह दद्दा ही का प्रभाव है। कनवजियों के हक़ में दमाद और दहेज, ख़रीदारों के हक़ में दुकानदार और दलाल, चिड़ियों के हक़ में दाम (जाल) और दाना आदि कैसे दुःखदायी हैं! दमड़ी कैसी तुच्छ संज्ञा है, दाद कैसा बुरा रोग है, दरिद्र कैसी कुदशा है, दारू कैसी कड़ुवाहट, बदबू, बदनामी और बदफैली की जननी है, दोग़ला कैसी ख़राब गाली है, दंगा-बखेड़ा कैसी बुरी आदत है, दंश (मच्छड़ या डास) कैसे हैरान करनेवाले जंतु हैं, दमामा कैसा कान फोड़नेवाला बाजा है, देशी लोग कैसे घृणित हो रहे हैं, दलीपसिंह कैसे दीवानापान में फंस रहे हैं। कहां तक गिनावें, दुनियाभरे की दन्त-कटाकट 'दकार' में भरी है, इससे हम अपने प्रिय पाठकों का दिमाग़ चाटना नहीं पसन्द करते, और इस दुस्सह अक्षर की दास्तान को दूर करते हैं।

ट।

इस अक्षर में न तो 'लकार' का सा लालित्य है, न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्व-बोधक गुण है; पर विचार कर के देखिए तो शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुवा है! सूक्ष्म विचारके देखो तो फ़ारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न होके मरना मारना जानते हैं, ज़बरदस्त होने पर निर्बलों को मनमानी

रीति पर सताना जानते हैं, बड़े प्रसन्न हों तो तन, मन, धन से सहाय करना जानते हैं, जहां और कोई युक्ति न चले वहां निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का बट्टा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे धीरे हंसा खिलाके अपना मतलब गांठना, जो नीति का जीव है, उसे बिलकुल नहीं जानते।

इतिहास लेके सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए। ऐसा कोई न मिलेगा जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो। यही कारण है कि उनकी वर्णमाला में टवर्ग हई नहीं। किसी फ़ारसी से टट्टी कहलाइए तो मुंह बीस कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती। टट्टी की ओट में शिकार करना जानते ही नहीं, उन बिचारों के यहां 'टट्टा' का अत्तर कहां से आवे। इधर हमारे गौरांगदेव को देखिए। शिरपर हैट, तन पर कोट, पावों में प्यैंट, और बूट, ईश्वर का नाम आल्माइटी, (सर्वशक्तिमान) गुरू का नाम ट्यूटर, मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिससे प्रीप्ति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोज़गार का नाम ट्रेड, नफ़ा का नाम बेनीफ़िट, कवि का नाम पोयट, मूर्ख का नाम स्टुपिड, खाने में टेबिल, कमाने में टेक्स। कहां तक इस टिटिल-टेटिल (बकवाद) को बढ़ावें, कोई बड़ी डिक्शनरी (शब्द-कोष) को लेके ऐसे शब्द ढूंढ़िए, जिनमें 'टकार' न हो तो बहुत ही कम पाइएगा! उनके यहां 'ट' इतना प्रविष्ट है कि तोता कहाइए तो टोटा कहेंगे। इसी

'टकार' के प्रभाव से नीति में सारे जगत् के मुकुट-मणि हो रहे हैं। उनकी पालिसी समझना तो दरकिनार, किसी साधारण पढ़े लिखे से पालिसी के माने पूछो तो एक शब्द ठीक ठीक न समझा सकेगा।

इससे बढ़के नीतिनिपुणता क्या होगी कि रुज़गार में, व्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, बैर में, प्यार में, लल्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं! रीझेंगे तो भी ज़ियाफ़त लेंगे, नज़र लेंगे, तुहफ़ा लेंगे, सौग़ात लेंगे, और इन सैकड़ों हज़ारों के बदले देंगे क्या, 'श्रीईसाई' (सी० एस० आई०) की पदवी, या एक काग़ज़ के टुकड़े पर सार्टिफ़िकेट, अथवा कोरी थैंक, (धन्यवाद) जिसे उर्दू में लिखो तो ठेंग अर्थात् हाथ का अंगूठा पढ़ा जाय! धन्य री स्वार्थसाधकता! तभी तो सौदागरी करने आए, राजाधिराज बन गए। क्यों न हो, जिनके यहां बात २ पर 'टकार' भरी है उनका सर्वदा सर्वभावेन सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है! नीति इसी का नाम है, 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत ढो ले गए तब भारतीय लोगों की कुछ कुछ आखें खुली हैं। पर अभी बहुत कुछ करना है। पहिले अच्छी तरह आखें खोल के देखना चाहिए कि यह अक्षर जैसे अंगरेज़ों के यहां है वैसे ही हमारे यहां भी है, पर भेद इतना है कि उनकी "टी" की सूरत ठीक एक ऐसे कांटे की सी है कि नीचे से पकड़ के किसी वस्तु में डाल दें तो जाते समय कुछ न जान पड़ेगा, पर निक-

लते समय उस वस्तु को दोनों हाथों अपनी ओर खींच लावेगा। प्रत्यक्ष देख लो कि यह जिसका स्वत्व हरण किया चाहते हैं उसे पहले कुछ भी नहीं ज्ञान होता, पीछे से जो है सो इन्हीं का! और हमारे वर्णमाला का "ट" एक ऐसे आंकड़े के समान है, जिसे ऊपर से* पकड़ सकते हैं, और हर पदार्थ में प्रविष्ट कर सकते हैं; पर उस वस्तु को यदि सावधानी से अपनी ओर खींचें तौ तो कुशल है नहीं तो कोरी मिहनत होती है! इसी से हम जिन बातों को अपनी ओर खींचना आरम्भ करते हैं उनमें 'टकार' के नीकेवाली नोक की भांति पहिले तो हमारी गति ख़ूब होती है, पर पीछे से जहां दृढ़ता में चूके वहीं संठ के संठ रह जाते हैं।

दूसरा अन्तर यह है कि अङ्गरेज़ों के यहां "टी" सार्थक है और हमारे यहां एक रूप से निरर्थक। अंगरेज़ी में "टी" के माने चाह के हैं, जो उनके पीने की चीज़ है, अर्थात् वे अपना पेट भरना ख़ूब जानते हैं। पर हमारे यहां "ट" का कुछ अर्थ नहीं है। यदि टट्टा कहो तौ भी एक हानिकारक ही अर्थ निकलता है, घर में टट्टा लगा हो तो न हम बाहर जा सकते हैं, अर्थात् अन्य देश में जाते ही धर्म और बिरादरी में बदनाम होते हैं, और बाहर की विद्या, गुण आदि हमारे हृदय-मंदिर के भीतर नहीं आ सकते। आवैं भी तो हमारे भाई चोर २ कहके चिल्लाय!

---

*नीचे से पकड़ना अर्थात् उसके मूल को ढूंढ़ के काम में लाना और ऊपर से पकड़ना अर्थात् दैवाधीन समझ कर कर उठाना।

यह अनर्थ ही तो है।

तीसरा फ़र्क़ लीजिए, जितना उनके यहां "ट" का खर्च है उतना हमारे यहां है नहीं। तिस पर भी हम अपने यहां के "ट" का बर्ताव बहुत अच्छी रीति से नहीं करते। फिर कहां से पूरा पड़े। 'टकार' का अक्षर नीतिमय है, उस नीतिमय अक्षर को बुरी रीति से काम में लाना बुरा ही फल देता है। हम ब्राह्मण हैं तो टीका (तिलक) और चोटी सुधारने में घंटों बिता देते हैं, यह काम स्त्रियों के लिए उपयोगी था, हमें चाहिए था, वास्तविक धर्म पर अधिक जोर देते। यदि हम क्षत्री हैं तो टंटा-बखेड़ा में पड़े रहते हैं! यह काम चाहिए था शत्रुओं के साथ करना, नकि आपस में। यदि हम वैश्य हैं तो केवल अपना ही टोटा (घटी) या नफ़ा विचारेंगे, इससे सौदागरी का सच्चा फल नहीं मिलता। यदि हम अमीर हैं तो सैकड़ों रुपया केवल अपना टिमाक बनाने में लगा देंगे, टेसू बने बैठे रहेंगे, इससे तो यह रुपया किसी देश-हितकारी काम में लगाते तो अच्छा था। पढ़े लिखे हैं तो मतवाद में टिलटिलाया करेंगे, कोई काम करेंगे तो अंटसंट रीति से, सरतारे होंगे तो टालमटोला किया करेंगे।

इस ऊटपटांग कहानी को कहां तक कहिए, बुद्धिमान विचार सकते हैं कि जब तक हमारी यह टेंव न सुधरेगी, जब तक हमारे देश में ऐसी ही टिचर्र फैली रहेगी तब तक हमारे दुःख-दरिद्र भी न टलेंगे। दुर्दशा योंही टेंटुआ दबाए

रहेगी ! हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी फूटी दशा सुधारने में जुट जायं। विराट् भगवान के सच्चे भक्त बनें, जैसे संसार का सब कुछ उनके पेट में है वैसे ही हमें भी चाहिए कि जहां से जिस प्रकार जितनी अच्छी बातें मिलें सब अपने पेट के पिटारे में भर लें, और देशभर को उनसे पाट दें, भारतवासीमात्र को एक बाप के बेटे की तरह प्यार करें, अपने २ नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी क़ायम करें, ऐंटी कांग्रेसवालों की टांय २ पर ध्यान न दें। बस नागर नट की दया से सारे अभाव झट पट हट जायंगे, और हम सब बातों में टंच हो जायंगे। यह 'टकार' निरस सी होती है, इससे इसके सम्बन्धी आरटिकिल में किसी नटखट सुन्दरी की चटक मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आंखों के साथ हट ! अरे हट ! की बोलचाल का सा मज़ा तो ला न सकते थे, केवल टटोल टटाल के थोड़ी सी एडीटरी की टेंक निभा दी है। आशा है कि इसमें की कोई बात टेंट में खोंस राखिएगा तो टका पैसाभर गुण ही करेगी। बोलो टेढ़ी टांगवाले की जै।

स्त्री।

संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें केवल गुण ही गुण अथवा दोष ही दोष हों। घी और दूध स्वादु (?) और

पुष्टि के लिए अमृत के समान हैं, पर ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति के लिये महादुखदायक हैं। संखिया प्रत्यक्ष विष है, पर अनेक रोगों के लिए अति उपयोगी है। इस विचार से जब देखिये तो जान जाइयेगा कि साधारण लोगों के लिये स्त्री मानो आधा शरीर है। यावत् सुख दुःखादि की संगिनी है, संसार-पथ में एकमात्र सहायकारिणी है।

पर जो लोग सचमुच परोपकारी हैं, स्वतंत्र हैं, महोदार-चरित हैं, असामान्य हैं, जगद्बन्धु, उन्नतिशील हैं उनके हक़ में मायाजाल की मूर्ति, कठिन परतंत्रता का कारण और घोर का मूल स्त्री ही है। आपने शायद देखा हो कि धोबियों का एक लौह यंत्र होता है जिसके भीतर आग भरी रहती है। जब कपड़ों को धोके कलप कर चुकते हैं तब उसी से दबाते हैं। इस यंत्र का नाम भी इस्तरी है। यह क्यों? इसी से कि धोये कपड़े के समान जिनका चित्त जगत-चिन्तारूपी मल से शुद्ध है उनके दबाने के लिये उनकी आर्द्रता (तरी व सहज सरलता) दूर करने के लिये लोहे के सरिस कठोर अग्निपूर्ण पात्र सदृश उष्ण-परमेश्वर की माया अर्थात् दुनियां भर का बखेड़ा फैलानेवाली शक्ति स्त्री कहलाती है।

अरबी में नार कहते हैं अग्नि को, विशेषतः नरक की अग्नि को और तत्संबन्धी शब्द है नारी। जैसे हिन्दू से हिन्दुस्तान बनता है, वैसे ही नार से नारी होता है, जिसका भावार्थ यह है कि महादुःख रूपी नर्क का रूप, गृहस्थी की सारी चिन्ता

सारे जहान का पचड़ा केवल स्त्री ही के कारण ढोना पड़ता है। फ़ारसी में ज़न (स्त्री) कहते हैं मारने वाले को 'राहज़न', 'नक़-बज़न' इत्यादि भला अष्टप्रहार मारनेवाले का संसर्ग रख के कौन सुखी रहा है। एक फ़ारस के कवि फ़रमाते हैं 'अगर नेक बूदे सरं-जामे जन्, भजन् नाम न जन् नामें जन्' अर्थात् स्त्रियों (स्त्री सम्बन्ध) का फल अच्छा होता तो इनका नाम मज़न होता (मा मारय)। अंगरेज़ी में वी म्येन (स्त्री) शब्द मेंयदि एक ई (E अक्षर) और बढ़ा दें तो Woe (वो) शब्द का अर्थ है शोक और म्येन कहते हैं मनुष्य को। जिसका भावार्थ हुआ कि मनुष्य के हक़ में शोक का रूप। दुष्टा कटुभाषिणी कुरूपा स्त्रियों की कथा जाने दीजिये। उनके साथ तो प्रतिक्षण नर्क जातना हुई है यदि परम साध्वी महा मृदु भाषिणी अत्यन्त सुन्दरी हों तौ भी बंधन ही है। हम चाहते हैं कि अपना तन, मन, धन, सर्वस्व परमेश्वर के भजन में, राजा के सहाय में, संसार के उपकार में निछावर कर दें। पर क्या हम कर सकते हैं ? कभी नहीं। क्यों ? गृह स्वामिनी किस को देख के जिएँगी वे खाएँगी क्या ? हमारा जी चाहता है कि एक बार अपनी राज राजेश्वरी का दर्शन करें, देश देशान्तर की सैर करें। घर में रुपया न सही। सब बेंच खोंच के राह भर का ख़र्च निकाल लेंगे। पर मन की तरंग मन ही में रह जाती हैं, क्योंकि घर के लोग दुःख पावेंगे, हम पढ़े लिखे लोग हैं। प्रतिष्ठित कुल के भये उपजे हैं; एक तुच्छ व्यक्ति की नौकरी करके बातें कुबातें न सुनेंगे। स्थानांतर में चले जायंगे, दो चार रुपये की मज़दूरी

कर खायँगे। गुलामी तो न करनी पड़ेगी। पर खटला लिये लिये कहाँ फिरेंगे; घर वाली को किसके माथे छोड़ जायँगे। यही सोच साच के जो पड़ती है सहते हैं। इन सब तुच्छताओं का कारण स्त्री है। जिसके कारण हम गिरस्त कहाते हैं अर्थात् गिरते गिरते अस्त हो जाने वाला। भला हम अपने आत्मा की, अपने समाज की उन्नति क्या करेंगे।

एक रामायण में लिखा है कि जिस समय रावण मृत्यु के मुख में पड़े थे, 'अब मरते हैं', 'तब मरते हैं' की लग रही थी उस समय भगवान रामचन्द्र जी ने कहा—लक्ष्मण जी से कि रावण ने बहुत दिन तक राज्य किया है, बहुत विद्या पढ़ी है उनके पास जाओ। यदि वे नीति की दो बातें भी बतला देंगे तो हमारा बड़ा हित होगा। हमें अभी अयोध्या चल के राज्य करना है। लक्ष्मण जी भ्रातृ चरण की आज्ञानुसार गये और अभीष्ट प्रकाश किया। रावण ने उत्तर दिया कि अब हम पर लोक के लिये वद्धपरिकर हैं। अधिक शिक्षा तो नहीं दे सकते पर इतना स्मरण रखना—कि तुम्हारे पिता दशरथ महाराज बड़े विद्वान और बहुद्रष्टा थे। पर उन्होंने कैकेई देवी का बचन मानने कारण पुत्र-वियोग और प्राण-हानि सही। और हम भी बड़े भारी राजा थे, पर मन्दोदरी रानी की बात कभी न मानते थे। उसका प्रत्यक्ष फल तुम देख ही रहे हो। सारांश यह है कि स्त्री को मुँह लगाना भी हानिजनक है और तुच्छ समझना भी मंगलकारक नहीं है।

———

दो ।

दकार की दुरूहता हमारे पाठकों को भली भांति विदित है और यह शब्द उसी में और एक तुरो लगा के बनाया है। इससे हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह भी दुःख दुर्गुणादि का दरिया ही है, क्योंकि सभी जानते हैं कि—'नहिं बिष बेलि अमिय फल फरहीं'। पर इतना समझ लेने ही से कुछ न होगा। बुद्धिमान को चाहिए कि जिन बातों को बुरा समझे उन्हें यत्नपूर्वक छोड़ दे। किन्तु यतः संसार की रीति है कि जब कोई जानी बूझी बात को भी चित्त से उतार देता है तो उसके हितैषियों को उचित होता है कि सावधान कर दें। इसी में हम अपना धर्म समझते हैं कि अपने यजमानों को यह दुर्गतिदायक शब्द स्मरण करा दें, क्योंकि ब्राह्मण के उपदेश केवल हँस डालने के लिये नहीं हैं बरंच गांठ बांधने से अपना एवं अपने लोगों का हित साधने में सहारा देने के लिये है।

हम क्यों न कहें कि-दो-पर ध्यान दो और उसे छोड़ दो। इस वाक्य से कहीं यह न समझ लेना कि वर्ष समाप्त होने में केवल तीन मास रह गये हैं, इससे दक्षिणा के लिये बारबार दो दो (देव देव) करते हैं। हां, इस विषय पर भी ध्यान दो और हमें ऋण हत्या से शीघ्र छुड़ा दो तो तुम्हारी भलमंसी है। पर हम यद्यपि अपना मांगते हैं, अपने पत्र का मूल्य मांगते

हैं तो भी पांच वर्ष में अनुभव कर चुके हैं कि देने वाले बिना माँगे ही भेज देते हैं और नादिहंद सहस्र बार मांगने से, सैकड़ों चिट्ठी भेजने पर भी दोनों कान एवं दोनों आँख बन्द ही किए रहते हैं। इससे हमने इस दुष्ट (दो) के अक्षर का बोलना ही व्यर्थ समझ लिया है। हाँ, जो दयावान् हमारे इस प्रण के पूर्ण करने में सहायता देते हैं अर्थात् दो दो कहने का अवसर नहीं देते उनको हम भी धन्यवाद देते हैं। पर इस लेख का तात्पर्य दो शब्द का दुष्ट भाव दिखलाना और यथासाध्य छोड़ देने का अनुरोध करना मात्र है, न कि कुछ मांगना-जांचना। यदि तनिक इस ओर ध्यान दीजिये कि-दो-क्या है तो अवश्य जान जाइयेगा कि इसको हम मन बचन कर्म से त्याग देना ही ठीक है। क्योंकि यह हई ऐसा कि जिससे कहो उसी को बुरा लगे। कैसा ही गहिरा मित्र हो, पर आवश्यकता से पीड़ित होके उससे याचना कर बैठो अर्थात् कहो कि कुछ (धन अथवा अन्य कोई पदार्थ) दो तो उसका मन बिगड़ जायगा। यदि संकोची होगा तो दे देगा, किन्तु हानि सहके अथवा कुछ दिन पीछे मित्रता का सम्बन्ध तोड़ देने का विचार करके। इसी से अरब के बुद्धिमानों ने कहा है—'अलक़र्ज़ मिक़रा ज़ुल मुहब्बत'—जो कपटी वा लोभी वा दुकानदार होगा तो एक २ दो दो लेने के इरादे पर देगा सही, पर यह समझ लेगा कि इनके पास इतनी भी विभूति नहीं है अथवा बड़े अपव्ययी हैं। यदि ऋण की रीति पर न मांग के योंही

इस शब्द का उच्चारण कर बैठो, तो तुम तो क्या हो भगवान की भी लघुता हो चुकी है—'बलि पै मांगत ही भये बावन तन करतार'। यदि दैवयोग से प्रत्यक्षतया ऐसा न हुआ तौ भी अपनी आत्मा आपही धिक्कारेगी, लज्जा कहेगी—'कोदेहीत वदेत स्वदग्ध जठरस्यार्थे मनस्वी पुमान'। यदि आप कहें हम मांगेंगे नहीं देंगे अर्थात् मुख से दो दो कहेंगे नहीं किन्तु कानों से सुनेंगे तौ भी पास की पूंजी गँवा बैठने का डर है। उपदेश दीजियेगा तो भी अरुचिकर हुआ तो गालियां खाइयेगा। मनोहर होगा तो यथः प्राप्ति के लालच दूसरे काम के न रहिएगा। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि (दो) का कहना भी बुरा है, सुनना भी अच्छा नहीं।

कहां तक कहें यह 'दो' सब को अखरते हैं। चाहै जिस शब्द में दो को जोड़ दो उसमें भी एक न एक बुराई ही निकलेगी। दोख (दोष) कैसी बुरी बात है जिसमें सचमुच हो उसके गुणों में बट्टा लगा दे, जिस पर झूठमूठ आरोपित किया जाय उसकी शान्ति भंग कर दे। दोज़ख़ (नर्क अथवा पेट) कैसा बुरा स्थान है जिससे सभी मतवादी डरते हैं कैसा वाहियात अङ्ग है जिसकी पूर्ति के लिये सभी कर्तव्याकर्त्तव्य करने पड़ते हैं। दाँत कैसा तुच्छ सम्बोधन है जिसे मनुष्य क्या कुत्ते भी नहीं सुनना चाहते। दो पहर कैसी तीक्ष्ण बेला है कि ग्रीष्म क्या तो ग्रीष्म शीत ऋतु में भी सुख से कोई काम नहीं करने देती।

दोहर कैसा बेकाम कपड़ा है कि दाम तो दूने लगें, पर जाड़े में जाड़ा न खो सके, गरमी सह्य न हो सके। हां दोहा एक छन्द है जिसे कवि लोग बहुधा आदर देते हैं, सो भी जब उसमें से दो की शक्ति हनन कर लेते हैं।

इससे यह ध्वनि निकलती है कि जहां दो होंगे वहां उनका भाव भङ्ग ही कर डालना श्रेयस्कर होगा। इसी से ईश्वर ने हमारे शरीर में जो जो अवयव दो दो बनाए हैं उनका रूप गुण कार्य एक कर दिया है यदि कभी इस नियम में छुटाई बड़ाई इत्यादि के कारण कुछ भी त्रुटि हो जाती है तो सारी देह दोष पूर्ण हो जाती है, हाथ, पाँव, आँख, कान इत्यादि यदि सब प्रकार एक हों तो भी सुविधा होती है जहाँ कुछ भी भेद हुआ और दो का भाव बना रहा वहीं बुराई होती है इससे सिद्ध है कि नेचर हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से उपदेश दे रहा है कि जहां दो हों वहां दोनों को एक करो। तभी सुख पावोगे। ऋषियों ने भी इसी बात की पुष्टि के लिये अनेक शिक्षा दी है। स्त्री का नाम अर्द्धाङ्गी इसी लिये रक्खा है कि स्त्री और पुरुष परस्पर दो भाव रक्खेंगे तो संसार से सुख का अदर्शन हो जायगा। इनकी रुचि और उनकी और उनके विचार और इनके होने से गृहस्थी का खेल ही मट्टी हो जाता है। 'खसम जो पूजै द्यौहरा भूत पूजनी जोय। एकै घर में दो मता कुशल कहां ते होय॥' इससे इन दोनों को परस्पर यही समझना चाहिए कि हमारा अंग इसके बिना आधा है अर्थात् इसकी अनुमति बिना हमें कोई काम

करने के लिये अपने तईं अक्षम समझना उचित है। प्रेम सिद्धान्त यह भी सिखाता है कि सीता-राम, राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर, माता-पिता आदि पूज्य मूर्त्तियों को दो समझना, अर्थात् यह विचारना कि यह और हैं वह और हैं इनका महत्व उनसे कुछ न्यूनाधिक है, महापाप है। फ़ारसी में 'दोस्त' का शब्द भी यही द्योतन करता है कि दो को एक हो रहना ही सार्थकता है। नहीं तो दो बहु-बचन है उसके साथ (स्त = अस्त) क्रिया न होनी चाहिए थी। व्याकरण के अनुसार (स्तन्द = अस्तन्द वा हस्तन्द) होना चाहिए पर वहीं बहुवचन की क्रिया होने से द्वैतभाव प्रकाश होता। इससे यही उचित ठहरा कि शरीर दो हों तौ भी मन बचन कर्म एक होना चाहिए; इसी से कल्याण है। नहीं तो जहां दो हैं वहीं अनर्थ है।

संसार को हमारे पूर्वजों ने दुःखमय माना है—'संसारे रे मनुष्या बदत यदि सुखं स्वल्प मप्यस्ति किंचित।' इसका कारण यही लिखा है कि इसका अस्तित्व द्वन्द पर निर्भर है अर्थात मरना और जन्म लेना जब तक रहता है तब तक शांति नहीं होने पाती इससे यत्नपूर्वक इन दोनों (जन्म मरण) से छुट जाय तभी सदा सुखी और मुक्त होता है। हमारे प्रेम शास्त्र में भी यही उपदेश हैं कि इस द्वन्द (मरण जीवन) में से एक का दृढ़ निश्चय करले वही निर्द्वन्द अर्थात् जीवन मुक्त होता है। या तो प्रेम समुद्र के डूब के मर जाय, अर्थात दुःख-सुख, लाभ-हानि, निन्दा-स्तुति, स्वर्ग-नर्कादि की इच्छा चिन्ता भय इत्यादि से मृतक

की नाईं सरोकार न रक्खे या प्रेमामृत पान करके अमर हो रहे। अर्थात् दुख शोक मरण नर्कादि को समझ ले कि हमारा कुछ कर ही नहीं सकते। बस इसी से सब लोक-परलोक के झगड़े खतम हैं। यदि इन शास्त्रों के बड़े बड़े सिद्धान्तों में बुद्धि न दौड़े, तो दुनियां में देख लीजिये कि जितनी बातें दो हैं अर्थात् एक दूसरी में सर्वथा असम्बद्ध हैं उन में से एक रह जाय तो कभी किसी को दुःख न हो। या तो सदा सुख ही सुख हो तो जी न ऊबै या सदा दुख ही दुख बना रहे तो न अखरे। 'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।' सदा लाभ ही लाभ होता रहे तो क्या ही कहना है नोचेत् सदा हानि ही हानि हो तौ भी चिन्ता नहीं आख़िर कहां तक होंगी? इसी प्रकार संयोग-वियोग, स्तुति-निन्दा, स्वतंत्रता-परतंत्रता इत्यादि सब में समझ लीजिए तौ समझ जाइएगा कि दो होना ही कष्ट का मूल है। उनमें से एक का अभाव हो तो आनन्द है अथवा जैसे बने वैसे दोनों को एक कर डालने में आनन्द है। भारत का इतिहास भी यही सिखलाता है कि कौरव पांडव दो हो गए अर्थात् एक दूसरे के विरुद्ध हो गये इसी से यहां की विद्या-वीरता, धन-बल सब में घुन लग गया। यदि एक हो रहते तो सारा महाभारत इतिश्री था। अन्त में पृथिवीराज जयचन्द दो होगये। इससे रहा सहा सभी कुछ स्वाहा हो गया। यदि अब भी जहां जहां दो देखिये वहां वहां सच्चे जी से एक बनाने का प्रयत्न करते रहिए तो दो के साथ ही सारे दोष दुर्भाव दुख दूर हो जायंगे, नहीं दो

तौ जो कुछ है सो हम दिखला ही चुके। इनसे जो कुछ होता है सो यदि समझ में आगया हो तौ आज ही से अपने कर्तव्य पर ध्यान दो नहीं तौ इस दांत-किटाकिट को जाने दो।

खड़ी बोली का पद्य।

इस नाम की बाबू अयोध्या प्रसाद जी खत्री मुज़फ्फ़र-वासी कृत पुस्तक के दो भाग हमें हमारे सुहृद्वर श्रीधर पाठक द्वारा प्राप्त हुए हैं। लेखक महाशय की मनोगति तो सराहना-योग्य है, पर साथ ही असम्भव भी है। सिवाय फ़ारसी छंद और दो तीन चाल की लावनियों के और कोई छंद उस में बनाया भी है तो ऐसा है जैसे किसी कोमलाँगी सुन्दरी को कोट बूट पहिनाना। हम आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दुजी से बढ़के हिन्दी-भाषा का आग्रही दूसरा न होगा। जब उन्हीं से यह न हो सका तो दूसरों का यत्न निष्फल है। बांस के चूसने में यदि रस का स्वाद मिल सके तो ईख बनाने का परमेश्वर को क्या काम था। हां उरदू शब्द अधिक न भरके उरदू के ढंग का सा मज़ा हम पा सकते हैं, और उरदू कविताभिमानियों से हम साहंकार कह सकते हैं कि हमारे यहां का काव्य भी कुछ कम नहीं है। यद्यपि कविता के लिए उरदू बुरी नहीं है, कवित्व-रसिकों को वह भी वारललना के हावभाव का मज़ा दे जाती है, पर कवि होते हैं निरंकुश,

उनकी बोली भी स्वच्छंद ही रहने से अपना पूरा बल दिखा सकती है। जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रज-भाषा बुंदेलखंडी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फ़ारसी से बन गई है, जिसे चन्द्र से लेके हरिश्चन्द्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है, उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं। छोटे मोटे कवि हम भी हैं, और नागरी का कुछ दावा भी रखते हैं, पर जो बात हो ही नहीं सकती, उसे क्या करें। बहुतेरे यह कहते हैं कि ब्रजभाषा की कविता हर एक समझ नहीं सकता। पर उन्हें यह समझना चाहिए कि आपकी खड़ी बोली ही कौन समझे लेता है।

फिर, यदि सबको समझाना मात्र प्रयोजन है तो सीधी २ गद्य लिखिए। कविता के कर्ता और रसिक होना हर एक का काम नहीं है। उन विचारों की चलती गाड़ी में पत्थर अटकाना, जो कविता जानते हैं, कभी अच्छा न कहेंगे। ब्रजभाषा भी नागरी-देवी की सगी बहिन है, उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छुरी फेरना है! हमारा गौरव जितना इसमें है कि गद्य की भाषा और रक्खें, पद्य की और, उतना एक को बिलकुल त्याग देने में कदापि नहीं। कोई किसी की इच्छा को रोक नहीं सकता। इस न्याय से जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें चाहे कुदावें, पर कवि

लोग अपनी प्यार की हुई बोली पर हुक्म चलाके उसकी स्वतन्त्र मनोहरता का नाश नहीं करने के। जो कविता के समझने की शक्ति नहीं रखते वे सीखने का उद्योग करें। कवियों को क्या पड़ी है कि किसी के समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।

सामयिक तथा परिहासपूर्ण

कलिकोष ।

कचहरी—कच माने बाल और हरी मानी हरण करनेवाली, अर्थात् मुंडन (उल्टे छूरे से मूड़नेवाली) जहां गये मुंड़ाये सिद्ध ।

दर्बार—दर्ब द्रव्य का अपभ्रंश और अरि अर्थात् शत्रु, जैसे सुरारि मुरारि इत्यादि । भाषा में अन्तवाली ह्रस्व इ की मात्रा बहुधा लोप हो जाती है ।

अदालत—अदा अर्थात् छबि, उसकी लत । पोशाकें चमका २ के जा बैठनेवालों का स्थान । अथवा होगा तो वही जो भाग में है, पर अपनी दौड़ने धूपने की लत अदा कर लो । अथवा अदा बना के जाओ, लातें खा के आओ इत्यादि ।

हाकिम—दुःखी कहता है हा ! (हाय) तो हुजूर कहते हैं किम् अर्थात् क्या है बे ? अथवा क्यों बकता है !

वकील—वः कील, जो सदा कलेजे में खटकै, अथवा बंग भाषा में 'वोः की' क्या है, अर्थात् वह तुम्हारे पास क्या है, लावो ।

मुख़तार—जिसके मुख से तार निकले, अर्थात् मकड़ी (जाल फैलानेवाला) अथवा मुक्त्यारि (मुक्ति का अरि जो फंदे में आवै सो छूटने न पावै ।)

मुअक्किल—मुआ अर्थात् मरा किल इति निश्चयेन (ज़रूर

मरो।)

मुद्दई—ग्राम्य भाषा में शत्रु को कहते हैं, (हमार मुद्दई आहिउ लरिका थोरै आहिउ।)

मुद्दालेह—मुद (आनन्द) आ! आ! ले दोत! अर्थात् आव आव मज़ा ले अपने कर्मों का।

इजलास—अंगरेज़ी शब्द है, इज़ is (है) Loss (हानि) अर्थात् जहां जाने से अवश्य हानि है, अथवा ई माने यह, जलासा अर्थात् कोयला सा काला आदमी। अथवा फ़ारसी तो शब्द ही है, ज़ेर के बदले ज़बर अर्थात् अजल (मौत) की आस (आशा) अथवा बिना जल (पानी) के आस लगाए खड़े रहो।

चपरासी—लेने के लिए चपरा के समान चिपकती हुई बातैं करनेवाला! न देनेवालों से चप (चुप) रासी का अर्थ फ़ारसी में हुआ, 'नेवला है तू'—अर्थात् 'चुप रह, नेवला की तरह तू क्या ताकता है' कहनेवाला। अथवा फ़ारसी में चप के माने बायां अर्थात् अरिष्ट के हैं (विधि बाम इत्यादि रामायण में कई ठौर आया है,) अर्थात् तू बाम नेवला है, क्योंकि कोल डालता है।

अरदली—अरिवत् दलतीति भावः।

स्त्री—(शुद्ध शब्द इसस्तरी) अग्नितप्त लोह के समान गुण जिसमें। (धोबी का एक औज़ार)

मेहरिया—जिसकी आंखों में मेह (बात २ पर रोना) और हृदय

में रिया (फ़ारसी में कपट को रिया कहते हैं) का बास हो।

लोगाई—जिसमें नौ गौओं की सी पशुता हो। बंगाली लोग बहुधा नकार के बदले लकार और लकार के बदले नकार बोलते हैं, जैसे नुकसान को लोक़शान, निर्लज्ज को निरनज्ज।

जोरू—जो रूठना ख़ूब जानती हो।

पुरुख—पुरु कहत हैं जेह में खेतु सींचा जाथै, और 'ख' आकाश (संस्कृत में।) अर्थात् शून्य। भावार्थ यह हुआ कि एक पानी भरी खाल, जिसके भीतर अर्थात् हृदय में कुछ न हो। 'मूर्खस्य हृदयं शून्यं' लिखा भी है।

मनसवा—मन अर्थात् दिल और शव अर्थात् मुरदा (आकारान्त होने से स्त्रीलिंग हो गया) भाव यह कि स्त्री के समान अकर्मण्य, मुर्दा दिल, बेहिम्मत।

मर्द—मरदन किया हुआ, जैसे लतमर्द।

ख़सम—अरबी में ख़स्म शत्रु को कहते हैं।

सन्तान—जो सन्त अर्थात् बाबा लम्पटदास की आन से जन्मे।

बालक—बा सरयूपारी भाषा में 'है' को कहते हैं। जैसे ऐसन बा अर्थात् ऐसा ही है, और लक निरर्थक शब्द है। भाव यह कि होना न होना बराबर है।

लड़का—जो पिता से तो सदा कहे लड़, अर्थात् लड़ ले और स्त्री से कहे, का (क्या आज्ञा है?)

छोरा—कुलधर्म छोड़ देने वाला (रकार ड़कार का बदला)

पुत्र—पु माने नर्क (संस्कृत) और त माने तुझे, (फ़ारसी, जैसे जवाबत चिदिहम—तुझे क्या उत्तर दूं।) और रादाने धातु है, अर्थात् तुझे नर्क देने वाला।

किस पर्व में किसकी बनि आती है।

श्रीरामनौमी में भक्तों की बनि आती है। व्रत केवल दोपहर तक है, सो यों भी सब लोग दुपहर के इधर-उधर खाते हैं। इससे कष्ट कुछ नहीं, औ आनन्द का कहना ही क्या है। भगवान का जन्म दिन है। अनुभवी को अकथनीय आनन्द है। मतलबी को भी थोड़े से शुभ कर्म में बहुत बड़ी आशा है!!! वैसाख में कोई बड़ा पर्व नहीं होता, तौ भी प्रातस्नातकों को मज़ा रहता है। भोर की ठंढी हवा, सो भी बसन्त ऋतु की। रास्ते में यदि नीम का वृक्ष भी मिल गया, तो सुगन्ध से मस्त हो गये। जेठ में दशहरा को गंगापुत्रों की चाँदी है। गरमी के दिन ठहरे, बड़ा पर्व ठहरा। नहाने को कौन न आवेगा? और कहां तक न पसीजेगा। आषाढ़ी को चेला मूंड़ने वाले गोसाइयों के दिन फिरते हैं। ग़रीब से ग़रीब कुछ तो भेंट धरेईगा। नाग-पंचमी में लड़कियों की बनि आती है। परमेश्वर उनके माता पिता को बनाये रक्खे। भादों में हलषष्ठी को भुरजियों के भाग जगते हैं। जिसे देखो, वही बहुरी बहुरी कर रहा है। हमारे पाठक कहते होंगे—जन्माष्टमी भूल गये। पर हम जब आधी

रात तक निर्जल रहने की याद दिला देंगे तब यक़ीन है, कि वे भी सब आमोद-प्रमोद भूल जायंगे। क्योंकि 'भूखे भगति न होय गोपाला'। कुआंर का कहना ही क्या है। प्रोहित जी पित्र पक्षों भर सबके पिता-पितामहादि के रिप्रिज़ेंटेटिव (प्रतिनिधि) बने हुए नित्य शष्कुली खाते और गुलछर्रे उड़ाते हैं। फिर दुर्गा पूजा में बंगाली माशा पेट भर भर माँस खाते और तोंद फुलाते हैं। कातिक में यों तो सबी को सुख मिलता है, पर हमारे······ अन्टीबाजों की पौ बारह रहती हैं 'न हाकिम का खटका न रैयत का ग़म'। सरे बाज़ार मतलब गांठना, विशेषतः दिवाली में तो देश का देश ही उनकी 'स्वार्थसाधिनी' सभा का स्यंबर हो जाता है। पीछे से 'आक़बत की ख़बर ख़ुदा जाने।' आज तो राजा, बाबू, नवाब, सर (अंगरेज़ी प्रतिष्ठावाचक) हज़रत, श्रीमान सब आप ही तो हैं। अगहन और पूस हिन्दुओं के लिये (हक़ में) मनहूस महीने हैं। इनमें शायद कोई त्योहार होता हो। पर बड़ा दिन बहुधा इन्हीं में होता है। इससे मेवा फ़रोशों तथा हमारे गौरांग देवताओं का मुँह मीठा होता है। माघ में स्नानादि अखरते हैं। इससे धर्म-कार्य ही कम होते हैं। परबे कहां से हों। हां बसन्त पंचमी के दिन धोबियों की महिमा बढ़ जाती है। घर घर श्री पार्वती देवी की स्थानाधिकारिणी बनी पुजाती फिरती हैं (हम नहीं जानते यह चाल कब से चली है और कौन उत्तमता सोच के चलाई गई है।) फागुन के तो क्या क्या गुन गाइये। होली है !!! ऐसा कौन है जो ख़ुशी के मारे

पागल न हो जाता हो? जब जड़ वृक्ष, आम भी बौराते हैं तब आम-ख़ास सभी को बौराने की की क्या बात है? पर सबसे अधिक भडुओं का महत्व बढ़ जाता है। बड़े बड़े दरबारों में उनकी पूछ पैठार होती है। बड़े बड़े लोगों को उनकी पदवी मिलती है।

किस पर्व में किस पर आफ़त आती है।

नौरात्र, चैत्र और कुवांर दोनों में बकरों पर। हमारे कनौजिया भाई एवं बंगाली भाई उन बिचारे अनबोल जीवों का गला काटने ही में धर्म समझते हैं।

बैसाख, जेठ, असाढ़ बरी हैं, तौ भी छोटी मछलियों को आसन-पीड़ा है। जिसे देखो वही गंगा जी को मथ रहा है। सावन में, विशेषतः रक्षा-बंधन के दिन कंजूस महाजनों का मरन होता है, इनका कौड़ी कौड़ी पर जी निकलता है, पर ब्राह्मण-देवता मुसकें बांधने की रस्सी की भांति राखी लिए छाती पर चढ़े, घर में घुसे आते हैं।

भादों में स्त्रियों की मरही होती है। हरतालिका पानी पीने में भी पाप चढ़ाती है! बहुत सी बुढ़ियां तमाखू की थैली गाले पर धर के पड़ रहती हैं। सभी तो पतिव्रता हुईं नहीं,

दनभर पति से खांव २ करती है। कहीं पावें तो उस ऋषि की दाढ़ी जला दें, जिसने यह व्रत निकाला है।

पित्रपक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते २ सूख जाते होंगे। 'हाय हम सभा करते, लेक्चर देते मरते हैं, पर पोप जी देशभर का धन खाए जाते हैं!'

कार्तिक में, ख़ासकर दिवाली में, आलसी लोगों का अरिष्ट आता है। यहां मुंह में घुसे हुए मुच्छों के बाल हटाना मुशकिल है, वहां यह उठाव वह धर, यहां पुताव, वहां लिपाव, कहां की आफ़त !

अगहन पूस तो मनहूस हई हैं, विशेषतः धोबियों के कुदिन आते हैं। शायद ही कभी कोई एक आध डुपट्टा उपट्टा धुलवाता हो।

माघ का महीना कनौजियों का काल है। पानी छूते हाथ पांव गलते हैं। पर हमें बिना स्नान किये फलहार खाना भी धर्मनाशक है। जलसूर के माने चाहे जो हों, पर हमारी समझ में यही आता है कि सूर अर्थात् अंधे बनके, आखें मूंदके लोटा भर पानी पीठ पर डाल लेनेवाला जलसूर है!

फागुन में होली बड़ा भारी पर्व है। सब को सुख देती है। पर दुःख भी कइयों को देती है। एक माड़वारी, दिनभर खाना है न पीना, डफ पीटते २ हाथ रह जाता है। हौकते २ गला फटता है। कहीं अकेले दुकेले शैतान-चौकड़ी (लड़कों के समूह) में निकल गए तो कोई पाग उतारै छै, कोई धाप मारै

छै, कोई कीचड़ उछारै छै! क्या करें बिचारे एक तो हिन्दू, दूसरे कमज़ोर, तीसरे परदेशी सभी तरह आफ़त है। दूसरे नई रोशनीवाले देशभाइयों की बैलच्छ देख देख जले जाते हैं। यह चाहते हैं सब ज्यैंटिलमैन बन जायँ, वहां आदमी बनना भी नापसंद है।……मुंह रंगे हनूमान जी की बिरादरी में मिले जाते हैं। तीसरे दाढ़ीवाले हिन्दू दिनभर रंग अबीर धोओ, पर ललाई कहां जाती है। जो किसी ने गंधा पिरोजा लगा दिया तो और भी आफ़त है। लो, इतने हमने बता दिए, कुछ तुम भी सोचो।

ककाराष्टक।

ज्योतिष जाननेवाले जानते हैं कि होड़ाचक्र के अनुसार एक अक्षर पर जितने नाम होंगे उनका जन्म एक नक्षत्र के एक ही चरण का होगा, और लक्षण भी एक ही सा होगा। व्यव-हार-सम्बन्धी विचार में ऐसे नामों के लिए ज्योतिषियों को बहुत नहीं विचारना पड़ता। बिना विचारे कह सकते हैं कि एक राशि, एक नक्षत्र, एक चरण के लोग मिल के जो काम करेंगे वह सिद्ध होगा। लोक में भी नाम-राशी का अधिक सम्बन्ध प्रसिद्ध है। इसी विचार पर सतयुग में सत्य, सज्जनता, सद्धर्मादि का बड़ा गौरव था। हमारे पाठक जानते होंगे कि श्री महाराजाधिराज कलियुग जी देव (फ़ारसी में भी तो) बड़े छँटे बड़े नीतिनिपुण

हैं। वे काहे को चूकते हैं। जब द्वापर के अंत में इस देश की ओर आने लगे तो अपना नाम राशी-नगर समझ के इस कानपुर को अपनी राजधानी बनाया, और बहुत से ककार ही नाम वाले मुसाहब बनाए। जिनमें से छः सभासद हम पर बड़ी कृपा करते हैं। अतः हमने सोचा कि अपने रत्न दयालु जजमानों की स्तुति न करना कृतघ्नता है। छः मुसाहब, एक महाराज, एक उनकी राजधानी की स्तुति में अष्टक बना डालें तो संसारी जीव धर्म कर्मादि से शीघ्र मुक्ति पा सकेंगे। हमारे छः देवता या कलिराज के मुख्य सहायक यह हैं,—एक कनौजिया यद्यपि कान्यकुब्ज-मंडली इत्यादि कार्रवाइयां उन्हों ने महाराज की मरज़ी के ख़िलाफ़ की हैं, पर महाराज तो बड़े गंभीर हैं, वे बहुत कम नाराज़ हुए हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि इनकी पैदाइश विराट भगवान के मुख से है, और मुख ऐसा स्थान है जहां थूक भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेंगा वह कहां तक थुकैलपना न करेगा। दूसरे कायस्थ हैं, इन पर भी कायस्थ-सभा, कायस्थ-पाठशाला का इलज़ाम लग सकता है, और बाज़े लोग वैष्णव हो जाते हैं, इससे कलियुग जी नाख़ुश हो जांय तो अजब नहीं। पर चूंकि कलियुगराज की माशूक़ा बी उरदूजान की सिफ़ारिश है, इससे कोई डर नहीं रहा। तीसरे मुसाहिब कलवार हैं, इनमें बेशक वही लोग हुज़ूर के कृपापात्र हैं, जो कलवारिया के कार्य्याध्यक्ष हैं। चौथे कहार, पांचवें कसाई, छठे कसबी यह बेशक बेऐब हैं। इन छहों मुसाहिबों में इतना मेल है कि एक

दूसरे के मानों अंग प्रत्यंग हैं। एक के बिना दूसरा निर्बल है, और उन्हीं के एका का फल है कि कलिदेव राज करते हैं। यह परिचयस्तोत्र पाठकों की श्रद्धा बढ़ाने मात्र को दिया है।

मुक्ति के भागी।

एक तो छः घर के कनवजिये, क्योंकि वैराग्य इनमें परले सिरे का होता है। सब जानते हैं कि स्त्री का नाम अर्द्धाङ्गी है। बेपढ़े लिखे लोग तक आपस में पूछते हैं "कहौ घर का क्या हाल है?" इससे सिद्ध हुआ कि घर स्त्री ही का नामांतर है। उस स्त्री को यह महा तुच्छ समझते हैं। यहां तक कि 'हंः मेहरिया तौ आय पायें कै पनहीं', बरंच पनहों के खो जाने से तो रुपया-धेली का सोच भी होता है; परन्तु स्त्री का बहुतेरे मरना मनाते हैं। अब कहिये, जिसने अपने आधे शरीर एवं ग्रह-देवता को भी तृणवत् समझा उस परम त्यागी वैरागी की मुक्ति क्यों न होगी?

दूसरे अढ़तिए, क्योंकि प्रेतत्व जीते ही जी भुगत लेते हैं। न मानो कानपुर आके देख लो, बाज़े बाज़ों को आधी रात तक दतून करने की नौबत नहीं पहुंचती। दिन रात बैपारियों की हाव २ में यह भी नहीं जानते कि सूरज कहां निकलता है। भला जिसे जगत्-गति व्यापती ही नहीं, जिसे क्षुधा-तृषा लगती ही नहीं है, उस जितेंद्री महापुरुष को मुक्ति न होगी,

तो किसे होगी ?

तीसरे उपदंश रोगवाले, क्योंकि बड़े २ वैद्यों ने सिद्ध किया है कि इस रोग में हड्डियों तक में छिद्र हो जाते हैं तो कपाल में भी हड्डी ही है, शरीर को भीतर ही भीतर फूंक देती है। अब समझने की बात है कि जिसके प्राण ब्रह्माण्ड (शिर) फोड़ के निकलें तथा पंचाग्नि की परदादी प्रति लोमाग्नि का सेवन करे वह परम योगी शरभंग ऋषि के समान तपस्वी क्यों न मोक्ष पावेगा ?

हमारे पाठक कहते होंगे, कहां की ख़ुराफ़ात बकते हैं। ख़ैर, तो अब सांची २ सुना चलें।

स्वर्ग, नर्क, मुक्ति कहीं कुछ चीज़ नहीं है। बुद्धिमानों ने बुराई से बचने के लिए एक हौवा बना दिया है, उसीका नाम नर्क है, और स्वर्ग वा मुक्ति भलाई की तरफ़ झुकाने के लिए एक तरह की चाट है। अथवा जो यह मान लो कि जिसमें महादुःख की सामग्री हो वह नर्क और परम सुख स्वर्ग है तो सुनिए, नर्की जीव हम गिना चुके, उन्हीं के भाई बंद और भी हैं। रहे स्वर्ग के सच्चे पात्र, वह यह हैं—किसी हिन्दी-समाचारपत्र के सहायक, बशर्तेकि वार्षिक मूल्य में धुकुर पुकुर न करते हों, और पढ़ भी लेते हों, उनको जीते ही जी स्वर्ग न हो तो हम ज़िम्मेदार। दूसरे देशोपकारी कामों में एक पैसा तथा एक मिनट भी लगावैंगे वे निस्सन्देह बैकुंठ पावेंगे, इसमें पाव रत्ती का फ़रक़ न पड़ेगा हमसे तथा बड़े २ विद्वानों से

तांबे के पत्र पर लिखा लीजिए। तीसरे गोरक्षा के लिए तन, मन, धन से उद्योग करनेवाले। अन्न, धन, दूध, पूत सब कुछ न पावें, तथा शरीर-मोक्ष का मज़ा न उठावें तो वेद, शास्त्र, पुराण और हम सबको झूठा समझ लेना। चौथे परमेश्वर के प्रेमानन्द में मस्त रहने वाले तथा भारत-भूमि को सच्चे चित्त से प्यार करनेवाले एक ऐसा अलौकिक अपरिमित एवं अकथ आनन्द लूटैंगे कि उसके आगे भुक्ति और मुक्ति तृण से भी तुच्छ हैं। हमारे वचन को 'ब्रह्मवाक्य सदा सत्यम्' न समझेगा वह सब नास्तिकों का गुरू है।

होली है

तुम्हारा सिर है! यहां दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा भुना हुवा हरा चना) हो रहे हैं इन्हें होली है, हें!

अरे कैसे मनहूस हो? बरस २ का तिवहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत! एक बार तो प्रसन्न हो कर बोलो, होरी है!

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की ज़बरदस्ती से होरी (हरि) बोलके शांत हो जाते। हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हें कृषि, वाणिज्य शिल्प सेवादि किसी में भी कुछ तंत नहीं है। खेतों की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी करदी है। जो कुछ

उपजता भी है वह कटके खलियान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है! रुज़गार-व्यौहार में कहीं कुछ देखी नहीं पड़ता। जिन बज़ारों में, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, कंचन बरसता था वहां अब दूकानें भांय २ होती हैं! देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषतः जो छाती ठोंक २ ताली बजवा २ काग़ज़ों के तख़्ते रंग २ कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं। नौकरी बी० ए०, एम० ए०, पास करनेवालों को भी उचित रूप में मुशकिल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली!

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किनके हैं? उन्हीं के न, जो किसी समय बसंत-पंचमी ही से:—

"आई माघ की पांचैं बूढ़ी डोकरियां नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इसका भी निर्बाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, व्याह मांह दिन चार।
शठ पण्डित, वेश्या बधू सबै भए इकसार"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनंदमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज तिवहार के दिन भी आनन्द-बदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं

करते। सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिन्दू-पन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया ?

तुम्हें आज क्या सूझी है, जो अपने पराए सभी पर मुंह चला रहे हो ? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है, उसके माननेवाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहरी सम्बन्ध छोड़ देते हैं। पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर, उन छूटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो ? ऐसी ही लड़ास लगी हो तो उनसे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी-बेटी का व्यौहार रखते हैं, तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रन्थों के माननेवाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निन्दा कर करके तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम ! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो ! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनियाभर का बोझा परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारख़ाने हैं, भले बुरे लोग और दुःख-सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पड़े तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगड़े में फंसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भांग खाके आए हो। इसी से ऐसी बेसिर-पैर की हांक रहे हो। अभी कल तक प्रेम-सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगड़े में फंसने न दे।' वाह ! भला तुम्हारी किस बात को मानें ?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ ! यही तो तुमसे नहीं होता। तुम तो जानते हो कि हम चोरी चहारी सिखावेंगे।

नहीं यह तो नहीं जानते। और जानते भी हों तो बुरा न मानते। क्योंकि जिस काल में देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमें यदि कुछ लोग "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" का उदाहरण बन जायं तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हां यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी २ समझ में नहीं आतीं। इससे मानने को जी नहीं चाहता।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का मानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी।

अच्छा साहब मानते हैं, पर यह तो बतलाइए जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छिः क्या समझ है ! अरे बाबा। हमारी बातें मानने में योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है। जो बातें हमारे मुंह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके

मानने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल में नहीं है। पर इसमें भी सन्देह न करना कि जो कोई चुपचाप आंखें मींच के मान लेता है वह परमानन्द भागी हो जाता है।

हिहि ! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुनकर परमानन्द तो नहीं, हां, मसख़रेपन का कुछ मज़ा ज़रूर पा जाता है !

भला हमारी बातों में तुम्हारे मुंह से हिहि तो निकली ! इस तोबड़ा से लटके हुए मुंह के टांकों के समान दो तीन दांत तो निकले। और नहीं तो, मसख़रेपन ही का सही, मज़ा तो आया। देखो, आंखें मट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो ! छत्तिसौ जात, बरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गंध से अकिल भाग न गई हो तो समझो। हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त हो जायगा। इसी से कहते हैं, भैया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जावो। आज मन मारके बैठे रहने का दिन नहीं है। पुरखों के प्राचीन सुख-सम्पति को स्मरण करने का दिन है। इससे हंसो, बोलो, गाओ बजाओ, त्योहार मनाओ, और सब से कहते फिरो—होली है।

हो तो ली ही है। नहीं तो अब रही क्या गया है।

खैर, जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो,

पर अपने ढंग से, नकि विदेशी ढंग से। स्मरण रक्खो कि जब तक उत्साह के साथ अपनी ही रीति-नीति का अनुसरण न करोगे तबतक कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि देखना पागलपन है। रोना निस्साहसों का काम है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। मांगने पर कोई नित्य डबलरोटी का टुकड़ा भी न देगा। इससे अपनपना मत छोड़ो। कहना मान जाव। आज होली है।

हां, हमारा हृदय तो दुर्दैव के वाणों से पूर्णतया होली (होल अंगरेज़ी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त) है! हमें तुम्हारी सी ज़िंदादिली (सहृदयता) कहां से सूझे?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) हैं तो उन पर साहस की पट्टी चढ़ाओ। मृतक की भांति पड़े २ कांखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौलो (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें, जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो?

यह कलजुग है। बड़े २ वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू"

दिखाई देता है। इससे, और मनोविनोद के अभाव में, उसके सेवकों के लिए कभी २ उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिए! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियम-विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है, महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फंसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है! धन्य हैं, यह सरगापत्ताली बातें! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आंतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुप-चाप मान ही लिया करो, बहुत अक्लि को दौड़ा २ के थकाया

न करो। इसी में आनन्द भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान् भूतनाथ श्मसान-विहारी, मुंडमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वतराजनंदिनी को वामांग ही में धारण किए रहते हैं, और प्रेम-शास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र को लोग शृङ्गार रस का देवता समझते हैं, पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए। जिसे सुनाके उन्होंने अर्जुन का मोह-जाल छुड़ाके वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ़ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दया-मया, मोह-ममता को तिलांजलि देके मारकाट आरंभ कर दी थी। इन बातों से तत्व-ग्राहिणी समझ भली भांति समझ सकती है कि भगवान प्रेमदेव की अनंत महिमा है। वहां अनुराग-विराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार संसार में रह कर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व-पुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो वा प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे वा निंदा, वाह्य दृष्टि से लाभ देख पड़े वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूलमंत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा

वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष-भर की कही सुनी क्षमा करके, हाथ जोड़ के, पांव पड़ के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथासामर्थ्य जी खोलके परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्यौहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात २ पर मुकरते ही हों उन्हें उनके भाग्य के आधीन छोड़के अपनी मौज में मस्त रहने का समय है। इसी से कहते हैं, नई बहू की नाईं घर में न घुसे रहो, पर्व के दिन मन मार के न बैठो, घर बाहर, हेती व्यौहारी से मानसिक आनन्द के साथ कहते फिरो—हो ओ ओ ली ई ई ई है।

विभिन्न
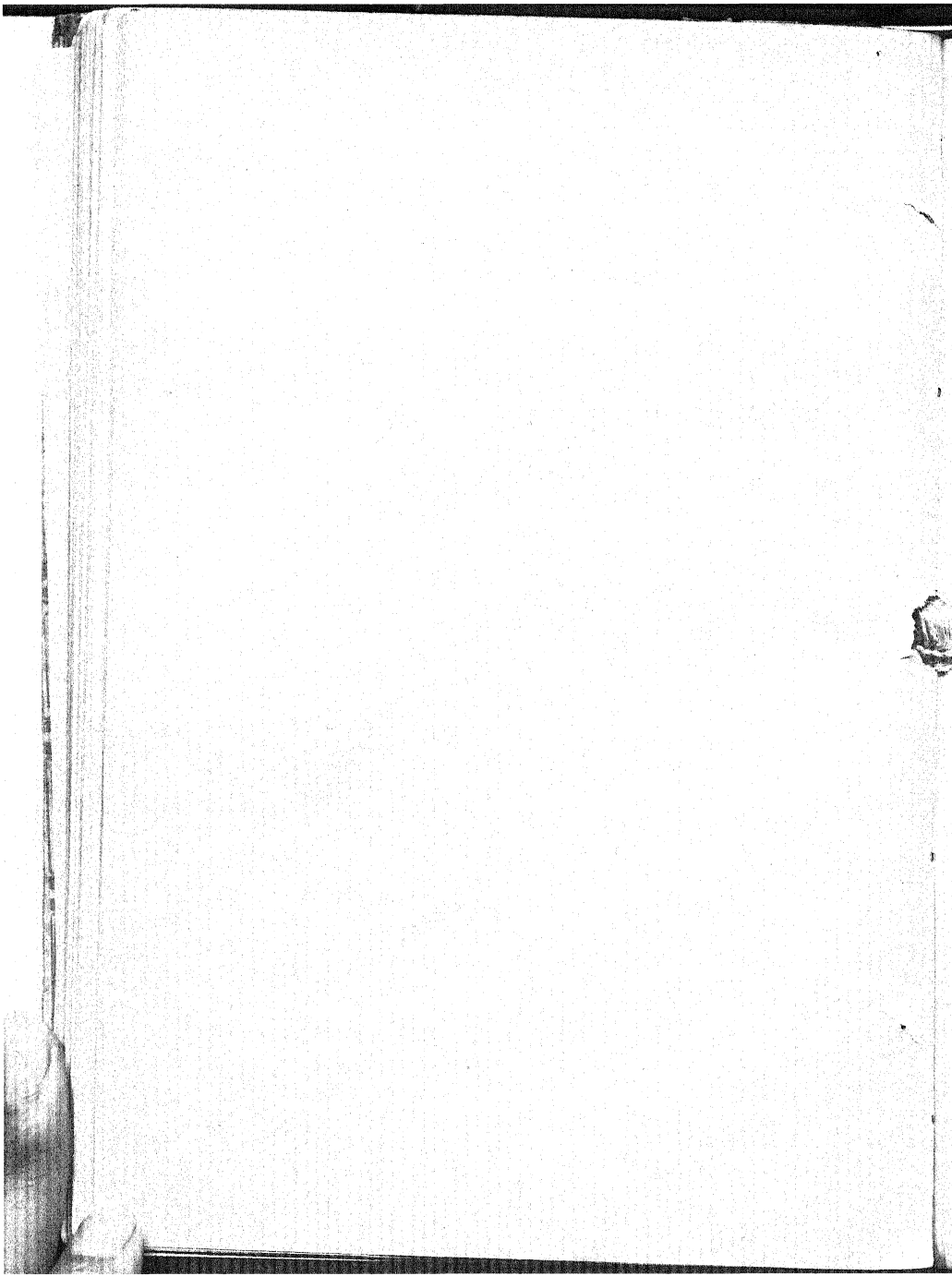
मतवादी अवश्य नर्क जायंगे।

हमारी समझ में बड़ी बड़ी पोथियां देखने और बड़े बड़े व्याख्यान सुनने पर भी आज तक न आया कि नर्क कहां है और कैसा है। पर, जैसे तैसे यह हमने मान रक्खा है कि संसार में विघ्न करने वालों की दुर्गति का नाम नर्क है। मरने के पीछे भी यदि कहीं कुछ होता हो तो ऐसे लोग अवश्य कठिन दंड के भागी हैं जो स्वार्थ में अंधे होके पराया दुख सुख हानि लाभ मान अपमान नहीं बिचारते अगले लोगों ने कहा है कि 'बैद चितेरो जोतषी हरनिंदक औ कब्बि। इनका नर्क विशेष है औरन का जब तब्बि।' पर इस बचन में हमें शंका है—काहेसे कि बैद और चितेरे आदि में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग पाये जाते हैं। फिर यह कहां संभव है कि सब के सभी नर्क के पात्र हों? वह वैद्य नर्क जाते होंगे जो न रोग जानैं न देश काल पात्र पहिचानैं केवल अपना पेट पालने को यह सिद्धान्त किए बैठे हैं कि "यस्य कस्य चपत्राणि येन केन समन्वितं। यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यिति।" पर वह क्यों नर्क जायंगे जो समझ बूझ के औषधि करते हैं और रोगी दुख सुख का ध्यान रखते हैं अथवा अपनी दवा और मिहनत का दाम लेने में संकोच नहीं करते। चित्रकारों से किसी की कोई बड़ी हानि नहीं होती वरंच उनके द्वारा भूत और वर्त-

-मान समय के अच्छे बुरे लोगों का अन्य लोगों को स्मरण होता है। अतः औरों की अपेक्षा इन में से नर्कगामी थोड़े होने चाहिये। हां, जोतषियों में बहुत लोग ऐसे हैं जो पढ़े लिखे राम का नाम ही हैं, पर सबके अदृष्ट बतलाने तथा अनमिल जोड़ी मिलाने और वर कन्या का जन्म नशाने एवं बैठे बिठाये गृहस्थों को जी में शंका उपजाने का बीड़ा उठाये बैठे हैं। वे अवश्य नर्क भागी हों। पर जो अपनी विद्या के बल से भूगोल खगोल को हस्ता-मलक किये बैठे हैं उन्हें कौन नर्क भेज सकता है ? अथवा यह कह देते हैं कि अमुक ग्रंथ के अनुसार हमारे बिचार यों आता है आगे क्या होगा क्या नहीं यह प्रश्न ईश्वर से जाके करो, वह कहने वाले नर्क से दूर हैं।

रहे हरनिन्दक। उन्हें नर्क से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि परमेश्वर सदा एकरस, आनन्दमय है। उनकी निन्दा से न उसको हानि है, न जगत की हानि है। हां, निन्दक अपना पागलपन दिखाता है। सो पागलपन एक रोग है, पाप नहीं। यदि हरनिन्दक का अर्थ 'अनीश्वरवादी' लीजिये, तो भी नर्क को उससे क्या सम्बन्ध है ? एक बात उसकी समझ में नहीं आती, उसे वह नहीं मानता। बस ! बरंच हम देखते हैं तो सबकी स्वत्वरक्षा सब से न्यायाचरण आदि गुण बहुधा नास्तिकों ही में पाये जाते हैं। कपटी उनमें बहुत कम हैं। भला ऐसे लोग नर्क जायंगे ? हां, हरि की वास्तविक निन्दा किसी मत के कट्टर पक्षपाती अवश्य करते हैं। उनका नर्क-बास युक्ति-

सिद्ध है। कवियों के लिये बेशक यह बात है कि वे अकेले क्या चाहें तो एक बड़े समूह को लेके नर्क यातना का स्वाद लें, चाहें बड़ी जथा जोड़ के जीवन मुक्ति का आनन्द भोगें, क्योंकि उन्हें अपनी और पराई मनोवृति फेर देने का अधिकार रहता है। सिद्धान्त यह, कि ऊपर कहे हुये सब लोग अवश्य नर्क ही जायंगे यह बात विचार शक्ति को कभी माननीय नहीं हो सकती। पर, हां, हमारे मत वाले भाई अफ़सोस है कि नर्क के लिये कमर कसे तैयार हैं। क्यों कि इन महापुरुषों का मुख्य उद्देश्य यह है कि दुनियां भर के लोग हमारे अथवा हमारे गुरू के चेले होजायँ। सो तो त्रिकाल में होना नहीं और लोगों का आत्मिक एवं सामाजिक अनिष्ट बात बात में है। यदि ऐसा होता कि आर्य समाजियों में आर्य सनातन धर्मियों में पंडित महाराज मुसल्मानों में मुल्ला जी ईसाइयों में पादरी साहब ही इत्यादि उपदेश करते तो कोई हानि न थी। बरंच यह लाभ होता कि प्रत्येक मत के लोग अपने अपने धर्म में दृढ़ हो जाते सो न करके एक मत का मनुष्य दूसरे संप्रदायियों में जाके शांति भंग करता है यही बड़ी खराबी है क्योंकि विश्वास हमारे और ईश्वर के बीच का निज सम्बन्ध है।

एक पुरुष ईश्वर की बड़ाई के कारण उसे अपना पिता मानता है, दूसरा उसके प्रेम के मारे अपना पुत्र कहता है। इसमें दूसरे के बाप का क्या इजारा है कि पहिले के विश्वास में खलल डाले। वास्तव में ईश्वर सब से न्यारा एवं सब में व्याप्त

है; वह किसी का कोई नहीं है और सबका सब कोई है। दृढ़ विश्वास और सरल स्नेह के साथ उसे जो कोई जिस रीति से भजता है वह उसका उसी रीति से कल्याण शांति दान अथच परित्राण करता है। इस बात के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जिसका जी चाहे वह चाहे जिस रीति से भजन करके देख ले कि ईश्वर उसे उसी रीति में आनन्द देता है कि नहीं।

पर मतविषयक शास्त्रार्थ के लती स्वय भजन नहीं करते बरंच दूसरे की भजन प्रणाली में विक्षेप डालने का उद्योग करते हैं। बहुत वर्षों से अथवा बहुत पीढ़ियों से जो विश्वास एक के जी पर जमा हुआ है उसे उखाड़ कर उसके ठौर पर अपना विचार रक्खा चाहते हैं भला इससे बढ़के हरि-विमुखता क्या होगी? और ऐसे विमुखों को भी नर्क न हो तो ईश्वर के घर में अंधेर है। संसार में जितनी पुस्तकें धर्मग्रन्थ कहलाती हैं सब के लिखने वाले भगवान के भक्त एवं जगत के हितैषी मनुष्य थे। अपने अपने देश काल अथच निज दशा के अनुसार सभों ने अच्छी ही अच्छी बातें लिखी हैं। रहा यह कि मनुष्य की बुद्धि सब बातों में और सब काल में पूर्णतया एक रूप नहीं रहती, इससे संभव है कि प्रत्येक मत के प्रवर्तक से कुछ बुराई हो गई हो या उसके लेख में कहीं भ्रम या दोष ही रह गया हो। पर, हमें अधिकार नहीं है कि उनके काम या वचन पर आक्षेप करें। यदि आप यह न भी मानें कि हमारे दोषों

से उनके अल्प थे तौ भी इसमें सन्देह नहीं है कि आपके भी सब काम और सब बातों में अशुद्धि का संभव है। फिर आप किस मुँह से दूसरों को बुरा कहें, जब कि भलाई-बुराई सब में है। तो मतवालों को यह अधिकार किसने दिया है कि दूसरे की बुराई गावैं? यह उनकी शुद्ध दुष्टता नहीं है तो क्या है? श्री रामानुज, श्री शंकराचार्य, श्री मसीह, श्री मुहम्मद सब मान्य पुरुष थे। इनमें से किसी के जीवन चरित्र में ऐसी बातें नहीं पाई जातीं जैसी आजकल के लोग मुँह से बुरी बताते हैं पर करते अवश्य हैं। इसी प्रकार वेद, पुराण, बाइबिल, कुरआन सब धर्मग्रन्थ हैं, क्योंकि चोरी, जारी, विश्वासघात आदि की आज्ञा किसी में नहीं है। फिर इनकी निन्दा करने वाला स्वयं निन्दनीय नहीं है तो क्या है?

यदि परमेश्वर संसार भर का स्वामी है और सभी की भलाई का उद्योग करता है तौ यह कैसे हो सकता है कि एक ही भाषा की एकही पोथी और केवल एकही आचार्य की बनाई हुई सब देशों और सब काल के लिये ठीक हो सके? हर देश के लोगों की प्रकृति स्वभाव, सामर्थ्य, भाषा, चाल-ढाल, खाना-पहिनना आदि एक सा कभी नहीं हो सकता। फिर ईश्वर की एक ही आज्ञा सब कहीं के, सब जन कैसे पालन कर सकते हैं? आज भारतवर्ष का कौन राजा अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ कर सकता है? अरब (या अपने ही यहां बंगाल) के रहने वाले माँस बिना कै दिन सुख से रह सक्ते हैं? चालीस चालीस दिन

का व्रत (रोज़ा) निर्बल और कोमल प्रकृति वालों से कब निभ सकता है? फिर यदि ईश्वर एकही लाठी से सबको हाँके तो उसकी जगदीशता का क्या हाल हो? कभी किसी वैद्य को हमने नहीं देखा कि एकही औषधि सब प्रकार के रोगियों को दे देता हो।

जब जिसके लिये जो बात ईश्वर योग्य समझता है तब तिसकी तौन ही बतला देता है। उससे बढ़ के बुद्धिमान कोई नहीं है। वह अपनी प्रजा का हिताहित आप जानता है। बेद, बाइबिल, कुरान बना के मर नहीं गया, न पागल हो गया है कि अब पुस्तक रचना न कर सके। यदि एक ही मत से सबका उद्धार समझता हो तो अन्य मतावलंबियों के ग्रन्थ, मनुष्य और सारे चिन्ह नाश ही कर देने में उसे किसका डर है? इन सब बातों को देख-सुन और सोच के भी मतवादीगण सबको अपनी राह चलाने के लिये हाव हाव करते हैं, फिर हम क्यों न कहें कि वे परमात्मा से अधिक बुद्धिमान बन के उसकी चलती गाड़ी में रोड़ा अटकाते हैं। भला सबसे बढ़के हरि-निन्दा और नर्क का सामान क्या होगा? जैसे हमारी प्रतिमा न पूजने वालों को कभी एक फूल उठा देती है, न निन्दकों को एक थप्पड़ मार देती है, वैसेही आपके निराकार भी न किसी उपासक को प्यार की बात कहते हैं, न गाली देने वाले का शिर दुखाते हैं। फिर हम आपको अथवा आप हमारी पूजा-पद्धति पर आक्षेप करें तो सिवाय परस्पर बिरोध उपजाने के और क्या करते हैं?

यदि वेद, बाइबिल, कुरानादि की एक प्रति अग्नि तथा जल में डाल दी जाय तो जलने अथवा गलने से कोई बच न जायगी। फिर एक मतवाला किस शेख़ी पर अपने को अच्छा और दूसरे को बुरा समझता है? आप को जिस बात में विश्वास हो उसको मानिये, हम आप की आत्मा के इजारदार नहीं हैं जो यह कहें कि यों नहीं यों कर। यदि आप दृढ़ विश्वासी हैं तो हम अपनी बातों से डिगा नहीं सकते। पर डिगाने की नियत कर चुके फिर कहिये बिश्वास डिगाने की मनसा ही कौन धर्म है, जो आपका विश्वास कच्चा है तो हमारी बातों से आप फिसल जायंगे पर यह कदापि संभव नहीं है पूर्णरूप से अपनी मुद्दत से मानी हुई रीति को छोड़ के सक साथ हमारी भांति हो जाइये। इस दशा में हम और भी घोर पाप करते हैं कि अपनी राह पर तो भली भांति ला नहीं सकते पर आप जिस राह में आनन्द से चले जाते थे उससे फिर गये। भला धर्ममार्ग से फेर देने वाला या फेरने की इच्छा रखने वाला नर्क के विना कहां जायगा?

'ब्राह्मण' के उद्देश्य।

प्रस्तावना—हम ब्राह्मण हैं। हमारे पूर्व पुरुष अपने गुणों के कारण किसी समय सब प्रतिष्ठा के पात्र थे। उन्हीं के नाते आज तक हमारे बहुत से भाई काला अक्षर भैंस बराबर होने पर भी जगत गुरु महा कुकर्म करने पर भी देवता और भीख

मांगने पर भी महाराज कहलाते हैं। हम गुणी हैं वा औगुणी यह तो आप लोग कुछ दिन में आप ही जान लेंगे, क्योंकि हमारी आपकी आज पहिली भेंट है। पर, यह तो जान रखिये कि भारतवासियों के लिये क्या लौकिक, क्या पारलौकिक मार्ग एक मात्र अगुवा हम और हमारे थोड़े से समाचारपत्र भाई ही बन सकते हैं। हम क्यों आये हैं, यह न पूछिये। कानपुर इतना बड़ा नगर सहस्रावधि मनुष्य की बस्ती, पर नागरी पत्र जो हिन्दी रसिकों को एक मात्र मन-बहलाव, देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय शिक्षक और सभ्यता दर्शक अत्युच्च ध्वजा यहां एक भी नहीं। भला यह हमसे कब देखी जाती है? हम तो बहुत शीघ्र आप लोगों की सेवा में आते और अपना कर्तव्य पूरा करते।

अस्तु अभी अल्प सामर्थी अल्पवयस्क हैं, इस लिये महीने में एक ही बार आस करते हैं। हमारा आना आप के लिये कुछ हानिकारक न होगा, वरंच कभी न कभी कोई न कोई लाभ ही पहुंचावेगा। क्योंकि हम वह ब्राह्मण नहीं हैं कि केवल दक्षिणा के लिये निरी ठकुरसुहाती बातें करें। अपने काम से काम। कोई बने वा बिगड़े, प्रसन्न रहे वा अप्रसन्न। अन्तःकरण से वास्तविक भलाई चाहते हुए सदा अपने यजमानों (ग्राहकों) का कल्याण करना ही हमारा मुख्य कर्म होगा। हम निरे मत मतान्तर के झगड़े की बातें कभी न करेंगे कि—एक की प्रशंसा दूसरे की निन्दा हो। वरंच वह उपदेश करेंगे जो हर प्रकार

के मनुष्यों को मान्य, सब देश काल में साथ हो, जो किसी के भी विरुद्ध न हो। वह चाल-ढाल व्यवहार बतावेंगे जिनसे धन बल मान प्रतिष्ठा में कोई भी वाधा न हो। कभी राज सम्बन्धी, कभी व्यापार सम्बन्धी विषय भी सुनावेंगे; कभी २ गद्य-पद्य-मय नाटक से भी रिझावेंगे। इधर-उधर समाचार तो सदा देहींगे। सारांश यह कि आगे की तो परमेश्वर जानता है, पर आज हम आपके दर्शन की खुशी के मारे उमंग रोक नहीं सकते। इससे कहे डालते हैं—हमको निरा ब्राह्मण ही न समझियेगा। जिस तरह 'सब जहान में कुछ हैं हम भी अपने गुमान में कुछ हैं' इसके सिवा हमारी दक्षिणा भी बहुत ही न्यून है। फिर यदि निर्वाह मात्र भी होता रहेगा तो हम, चाहे जो हो, अपने वचन निवाहे जायंगे। आश्चर्य है जो इतने पर भी कोई कसर मसर करे—

हां एक बात रही जाती है, कि हम में कुछ औगुण भी हैं सो सुनिये। जन्म हमारा फागुन में हुआ है, और होली की पैदाइश प्रसिद्ध है। कभी कोई हँसी कर बैठें, तो क्षमा कीजियेगा। सभ्यता के विरुद्ध न होने पावेगा। वास्तविक वैर हम को किसी से भी नहीं है पर अपने करम-लेख से लाचार हैं। सच कह देने में हम को कुछ संकोच न होगा। इससे जो महाशय हम पर अप्रसन्न होना चाहें पहिले उन्हें अपनी भूल पर अप्रसन्न होना चाहिये। अच्छा लो जो हमको कहना था सो कह चुके। आशीर्वाद है। दोहाः—

"सुखी रहौ शुभ मति गहौ जीवहु कोटि बरीष।
धन बल की बढ़ती रहै ब्राह्मण देत अशीष॥"

'ब्राह्मण' की अन्तिम बिदा।

"दरो दीवार पै हसरत से नज़र करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हमतो सफ़र करते हैं॥"

परमगूढ़ गुण रूप स्वभावादि सम्पन्न प्रेमदेव के पद पद्म को बारम्बार नमस्कार है कि अनेकानेक विघ्नों की उपस्थिति में भी उनकी दया से ब्राह्मण ने सात वर्ष तक संसार की सैर करली, नहीं तो कानपुर तो वह नगर है जहाँ बड़े बड़े लोग बड़ों बड़ों की सहायता के आछत भी कभी कोई हिन्दी का पत्र छः महीने भी नहीं चला सके। और न आसरा है कि कभी कोई एतद्विषयक कृतकार्यत्व लाभ कर सकेगा, क्योंकि यहाँ के हिन्दू समुदाय में अपनी भाषा और अपने भाव का ममत्व विधाता ने रक्खा ही नहीं। फिर हम क्योंकर मानलें कि यहाँ हिन्दी और उसके भक्त जन कभी सहारा पावैंगे? ऐसे स्थान पर जन्म लेके और खुशामदी तथा हिकमती न बनके ब्राह्मण देवता इतने दिन तक बने रहे सो भी एक स्वेच्छाचारी के द्वारा संचालित होके इस प्रेमदेव की आश्चर्य लीला के सिवा क्या कहा जा सकता है।

यह पत्र अच्छा था अथवा बुरा, अपने कर्तव्य पालन में योग्य था वा अयोग्य, यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

न्यायशील सहृदय लोग अपना विचार आप प्रगट कर चुके हैं और करेंगे। पर हाँ इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी और साहित्य (लिटरेचर) को थोड़ा बहुत सहारा इससे भी मिला रहता था। इसी से हमारी इच्छा थी कि यदि खर्च भर भी निकलता रहे अथवा अपनी सामर्थ्य के भीतर कुछ गाँठ से भी निकल जाय तो भी इसे निकाले जायंगे। किन्तु जब इतने दिन में, देख लिया कि इतने बड़े देश में हमारे लिये सौ ग्राहक मिलना भी कठिन है। यों सामर्थ्यवानों और देशहितैषियों की कमी नहीं है। पर वर्ष भर में एक रुपया दे सकने वाले हमें सौ भी मिल जाते अथवा अपने इष्ट मित्रों में दस दस पांच पांच कापी बिकवा देने वाले दस पन्द्रह सज्जन भी होते तो हमें छः वर्ष में साढ़े पांच सौ की हानि क्यों सहनी पड़ती, जिसके लिये साल भर तक काले काँकर में स्वभाव विरुद्ध बनवास करना पड़ा। यह हानि और कष्ट हम बड़ी प्रसन्नता से अंगीकार किये रहते यदि देखते कि हमारे परिश्रम को देखने वाले और हमारे विचारों पर ध्यान देने वाले दस बीस सद व्यक्ति भी हैं। पर जब वह भी आशा न हो तो इतनी मुड़धुन क्यों कर सही जा सकती ?

शिव मूर्ति।

हमारे ग्रामदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य

अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनके भक्त जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भांति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम दृष्टि से अपने हृदय मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शांति कारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथीं आवै और कोई उसका नाम बतादे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भांति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का ठीक २ बोध कर ले। केवल एक अँग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलने वाला हाथी को खूंटी के समान, कान छूने वाला सूप के समान, पांव स्पर्श करने वाला खंभे के समान कहेगा, यद्यपि हाथी न खूंटे के समान है न खंभे के। पर कहने वालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भांति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात करलें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा

अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तौ हम आस्तिक कैसे ! सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहां तक है वहां तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे !

उनके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन बुद्धि शरीर संसार परमारथ के लिये मंगल है। जो लोग केवला जगत के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही बिनय है कि व्यर्थ समय न बितावैं। जितनी देर पूजा पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है ! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कहके विचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचार शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं, तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं ! प्रिय पाठक उसकी सभी बातें अनन्त हैं। तौ मूर्तियां भी अनन्त प्रकार से बन सक्ती हैं और एक एक स्वरूप में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ २ अर्थ

लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवैं कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवण शील अर्थात् दयामय है। जहां हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपना नियम पालने से काम। हम चाहें मरें चाहें जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज की मूर्ति विना एक गृहस्थी भर का धन लगाये नहीं हाथ आती। यह बड़े ही अमीर का साध्य है। वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निरधन के धन हैं।

'हुनर मन्दों से पूछे जाते हैं बाबे हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त में ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर ही में लय होते हैं इस बात से दृष्टान्त मट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है हृदय मन्दिर की कुवासना रूपी दुरगंध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टि कारक 'सुगन्धं पुष्टि वर्द्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्ठ मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर में बिराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियां भी निरर्थक नहीं हैं इनके कल्पनाकारी मूर्ति निन्दकों से अधिक पढ़े लिखे थे। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रंग पर सब रंग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रंग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये कविता के आचार्यों ने अनुराग का रंग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रंग और क्या होगा? तीसरा रंग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे

पक्का यही रंग है, इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। ऐसेही प्रेमदेव सब से अधिक पक्के हैं उन पर और का रंग क्या चढ़ेगा ? इसके सिवा वाह्य जगत के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी से लिखी जाती है। फिर कहिए जिससे अंतर, बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों को आंख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है उसका फिर और क्या रंग हम मानें ? हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुन्दर व्यक्ति के आंखों में काजल और गोरे गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भरे की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहां तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परम सुन्दर का कौन रंग कल्पना करोगे ? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उसपर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधि देव का और क्या रंग है ? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे ? केवल जहाँ दीप ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है ? ऐसे ही हमारी हमारे अगणित ऋषियों की सब की बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें ? राम-

चन्द्र कृष्णचन्द्रादि को यदि अंगरेज़ी ज़माने वाले ईश्वर न मानें तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक सम्बन्ध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिवमूर्त्ति लिङ्गाकार होती है जिसमें हाथ, पांव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्त्ति पूजक कह देंगे कि 'हमको साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथा तथ्य प्रति कृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा करने के लिये एक संकेत चिन्ह मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिन्ह है।

सच भी यही है जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक ठीक मूर्त्ति ही क्या? आनन्द की कैसी मूर्त्ति? दुःख की कैसी मूर्त्ति? रागिनी की कैसी मूर्त्ति? केवल चित्तवृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतन!! बस! ठीक शिव मूर्त्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व अप्रतिमत्व कई एक बातें लिंगाकार मूर्त्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं वर्णन कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं। बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिन्ह भी हमने गोलमोल कल्पना कर लिया यदि 'नतस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर प्रतिमा नहीं है। तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिंग ही से होगी, क्योंकि जिसमें

हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है? पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि जो कोई अबयब ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आंखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है? तात्पर्य यह कि कुछ है, और कुछ नहीं है दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कहीं जा सके, और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भांति शिवलिंग भी समझ लीजिये। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्री गणेशायनमः हुई है !!!

इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूंढ़ो पर विश्वास में। इस लिये हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ पांव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आस पास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फ़ारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़बरिस्तान का नक़शा खींचेंगें, क्योंकि उनके यहाँ स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े बड़े बादशाह ख़ाक में दबे हुए सोते हैं। यदि क़बर का

तखता उठा कर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियां निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है यह दारा की इत्यादि ।

हमारे यहां उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्मियों के आने से पहिले यहां कबरों की चाल ही न थी। यूरोप में ख़ूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहां ताम्र वर्ण सौन्दर्य का अंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आजायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान में भी कहीं कहीं खुदा का दाहिना हाथ बायां हाथ इत्यादि वर्णित हैं, बरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट फेर की बातें मौलवी साहब और पादरी साहब कहें, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है तो उसका भी रूप हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सक्ते हैं जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा उच्च सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई-बन्धु, राजा, गुरू जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपदादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम

और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ठ सम्बन्धी कैसा होगा बस इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियां प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियां भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिये महा भयजनक है। अथच हम उसकी मंगलमयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति में कई एक विशेषता हैं। उनके द्वारा हम यह यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिन्ह होने से यह यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और परमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान सदा शिव विश्वव्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति-कल्पना में जगत वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिर स्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परमवैष्णववता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे ही विष्णु भगवान को परम शैव लिखा है कि भगवान विष्णु नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदा शिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार के कि हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र कमल शिवजी के

चरण कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता और क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण प्रति-पादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक ही प्रेम स्वरूप के नाम हैं। पर उसका वर्णन पूर्णतया असम्भव। अतः कुछ कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिये गये हैं जिसमें कवियों को वचन शक्ति के लिये आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिवमूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधार कहना छोड़ दीजिये! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को आपको देवता समझे। इसी भांति यह भी समझना चाहिये कि गंगा जी परम शक्ति हैं इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। यद्यपि

हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव समाज का वैष्णव और शाक्त लोगों से बिशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो परस्पर महा मैत्री से से रहना चाहिये। शिवमूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पांच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत संसार और परमार्थ क तत्व तो चार वेदों में आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप उनका गुण अधिक है। वेद उनकी बाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस बाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी बाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्या-भिमानी अधिकाधिक चार वेद द्वारा बड़ी हद चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जांयगे, पर उनके पंचम मुख सम्बन्धी सुख औरों के लिये है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े बड़े ऋषि मुनि भी नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर जहां तक

साधारणतया बहुत सी मूर्तियां देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र व्यवहार किया है। हां यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहां शिव हैं वहां कैलाश है। तौ जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा ? हे विश्वनाथ ! कभी हमारे हृदय मन्दिर को कैलाश बनाओगे ? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतबासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायं और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय ? जिस प्रकार अन्य धातु पाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिवमूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मंगलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझे। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य

हृदय उमड़ेगा, और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेमगंगा है। उसी के जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आप के हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान सब पदार्थ शिव मूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण का रूप है। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे में नाम होता, बिपति काल में निर्बाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है? स्वयं तुच्छ पदार्थ है। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं, नहीं तो घर की चक्की से भी गये बीते, पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आंखें मूंद के अन्धे की नक़ल कर देखो। अंधकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ मुंह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग़ में गर्मी चढ़ जायगी। ख़ैर इन बातों के बढ़ाने से क्या है? जहां तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहां तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे शिर पैर के काम, स्वर्ग शेख़चिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक अर्थात है। और हृदय

मन्दिर में प्रेम का प्रकाश है तौ संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है ।

सोने का डण्डा और पौंड़ा ।

देखने में सुवर्ण दंड ही सुन्दर है । ताप देखो सुलाख देखो तो स्वर्ण दंड ही अपनी खराई दिखलावैगा । उसका बनना और ताकना बड़ी कारीगरी, बड़े ख़र्च, बड़ी शोभा और बड़ी चिन्ता का काम है । पर हम पूछते हैं कि जो पुरुष भूखा है, जो भूख के मारे चाहता है कुछ ही मिल जाय, तो आत्मा शान्ति हो उसके लिये वह डंडा किस काम है ? कदाचित बालक भी कह देगा कि कौड़ी काम का नहीं । यदि उसको बेचने जाय तो ख़रीदार मिलना मुशकिल है । साधारण लोग कहेंगे कहां का एक दरिद्र एक दम आगया जो घर की चीज़ें बेचे डालता है । कोई कहेगा कहां से उड़ा लाए ? सच तो यह है, जो कोई ऐसा ही शौकीन आँख का अन्धा गांठ का पूरा मिलेगा तो ले लेगा । परन्तु भूखी आत्मा इतनी कल है कि स्वर्ण दंड से परंपरा द्वारा भी अपना जी समझा सके । कदापि नहीं । इधर पौंडे को देखिये देखने में सुन्दरता व असुन्दरता का नाम नहीं, परीक्षा का काम नहीं । लड़का भी जानता है कि मिठाइयों भर का बाप है । बनाने और बनावाने वाला संसार से परे है । ले के चलने में कोई शोभा है न अशोभा । ताकने में कोई बड़ा खट खट तो नहीं है ।

पहरा-चौकी, जागना-जूगना कुछ भी न चाहिये। पर कोई ताकने की आवश्यकता ही क्या है? जहां तक बिचारिए यही पाइएगा कि जितनी स्वर्ण दंड के सम्बन्ध में आपत्तियां हैं उससे कहीं चढ़ी बढ़ी इक्षु दंड के साथ निर्द्वन्दता है। विशेषतः क्षुधा क्रान्त के लिये वह तत्क्षण शांतिदाता ही नहीं वरंच पुष्टिकारक सुस्वादुप्रद भी है।

पाठक महोदय! जैसे इस दृश्यमान संसार में स्वर्ण-दंड और इक्षुदंड की दशा देखते हो ऐसे ही हमारी आत्मसृष्टि में ज्ञान और प्रेम है। दुनियां में जाहिरी चमक दमक ज्ञान की बड़ी है। शास्त्रार्थों की कसौटी पर उसके खूब जौहर खिलते हैं। संसारगामिनी बुद्धि ने उसके बनाने में बड़ी कारीगरी दिखलाई है। पांडित्याभिमान और महात्मापन की शान उससे बड़ी शोभा पाती है। इससे हद है कि एक अपावन शरीरधारी, सर्वथा असमर्थ अन्न का कीड़ा रोग शोकादि का लतमर्द मनुष्य उसके कारण अपने को साक्षात ब्रह्म समझने लगता है। इससे अधिक ऊपरी महत्व और क्या चाहिए? पर जिन धन्य जनों की आत्मा धर्म-स्वादु की क्षुधा से लालायित होरही हैं; जिनके हृदय-नेत्र हरि-दर्शन के प्यासे हैं उनकी क्या इतने से तृप्ति हो जायगी कि शास्त्रों में ईश्वर ने ऐसा लिखा है, जीव का यह कर्तव्य है, इस कर्म का यह फल है, इत्यादि से आत्मा शांति हो जायगी? हमतो जानते हैं शांति के बदले यह विचार और उलटी घबराहट पैदा करेगा कि हाय हमें यह कर्तव्य था, पर इन इन कारणों

से न कर सके। अब हम कैसे क्या करेंगे? यदि यह भयानक लहरें जी में उठीं तो जन्म भर कर्म-कांड और उपासना-कांड के झगड़ों से छुट्टी नहीं। और जो न उठीं तो मानो आत्मा निरी निर्जीव है। भूख का बिलकुल न लगना शरीर के लिये अनिष्ठ है। तो अपने कल्याणों की प्रगाढ़ेच्छा न होना आत्मा के लिये क्योंकर श्रेयस्कर कहें।

किसी महात्मा का वचन है कि 'वे लोग धन्य हैं जो धर्म के लिये भूखे और प्यासे हैं, क्यों कि वे तृप्त किए जायंगे'। सो तृप्त होना शुष्क ज्ञानरूपी स्वर्ण दंड से कदापि संभव नहीं, क्यों कि सोना स्वयं खाद्य वस्तु नहीं है। ऐसे ही ज्ञान भी केवल सुखद मार्ग का प्रदर्शक मात्र है, कुछ सुख स्वरूप नहीं है। वरंच बहुधा दुःखदायक हो जाता है। पर, हां, ईश्वर के अमित अनुग्रह से स्वयं रसमय निश्चित अलौकिक और अकृत्तिम प्रेम भी हमारे हृदय क्षेत्र में रक्खा गया है जिसके किंचित सम्बन्ध से हम तृप्त हो जाते हैं; आंतरिक दाह का नाश हो जाता है। ईश्वर तो ईश्वर ही है। किसी सांसारिक वस्तु का क्षणस्थाई और कृत्तिम प्रेम कैसा आनन्दमय है कि उसके लिये कोटि दुःख भी हो जाते हैं। और प्रेम-पात्र की प्राप्ति तो दूर रही, उसके ध्यान मात्र से हम अपने को भूल के आनन्दमय हो जाते हैं। जैसे यावत मिष्टान्न का जनक इक्षु दंड है, वैसे ही जितने आनन्द हैं सब का उत्पादक प्रेम है। तत्क्षण शांति और पुष्टि दाता यह इस समय प्रेम ही है जिसकी केवल एक देशी

तुच्छातितुच्छ सादृश्य गन्ने से दे सकते हैं, यद्यपि वास्तविक और यथोचित सादृश्य के योग्य तो अमृत भी नहीं है। प्रिय पाठक तुम्हारी आत्मा धर्म की भूखी है कि नहीं? यदि नहीं है तो सत्संग और सद्ग्रन्थावलोकन द्वारा इस दुष्ट रोग को नाश करें। हाय हाय। आत्मश्रेय के लिये व्याकुल न हुआ तो चित्त काहे को, पत्थर है। नहीं हमारे रसिक अवश्य हरि रस के प्यासे हैं उनसे हम पूंछते हैं क्यों भाई! तुम अपने लिये रुक्ष स्वर्ण दंड को उत्तम समझते हो अथवा रसीले पौंडे को।

पंच परमेश्वर।

पंचत्व से परमेश्वर सृष्टि-रचना करते हैं। पंचसम्प्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है। पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है। पंच वर्ष तक के बालकों का परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्तव्याकर्तव्य की ओर ध्यान न देके सदा सब प्रकार रक्षण किया करते हैं। पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। काम पंचबाण को जगत् जय करने की, पंचगव्य को अनेक पाप हरने की, पंचप्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य-सम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े बड़ों का जी ललचाने की सामर्थ्य परमेश्वर ने दे रक्खी है।

धर्म में पंचसंस्कार, तीर्थों में पंचगंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंच पतिव्रत आत्मा (पाक पेंजतन) इत्यादि का गौरव देखके विश्वास होता है कि पंच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसी मूल पर हमारे नीति-विदाम्बर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है। जिसमें सर्वसाधारण संसारी-व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पंच अर्थात् अनेक जनसमुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें। क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण न किसी को वाह्य चक्षु के द्वारा दिखाई देता है, न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा; पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि जिस बात को पंच कहते वा करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसी से:—

"पांच पंच मिल कीजै काज, हारे जीते होय न लाज,"

तथा—

"बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
ज़बाने ख़ल्क़ को नक़्क़ारए ख़ुदा समझो।"

इत्यादि वचन पढ़े लिखों के हैं, और—'पांच पंच कै भाषा अमिट होती है', 'पंचन का बैर कै कै को तिष्ठा है' इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुंह से बात २ पर निकलते रहते हैं। विचार के देखिए तो इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि—

'जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छिन होय'

की भांति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही

बन जाता है। आप चाहे जैसे बलवान, धनवान, विद्वान हों; पर यदि पंच की मरज़ी के ख़िलाफ़ चलिएगा तो अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहिए, पर संसार से आपका वा आपसे संसार का कोई काम निकलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। हां, सब झगड़े छोड़कर विरक्त हो जाइए तो और बात है। पर, उस दशा में भी पंचभूतमय देह एवं पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय का झंझट लगा ही रहेगा। इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्बाह नहीं। क्योंकि पंच जो कुछ करते हैं, उसमें परमेश्वर का संसर्ग अवश्य रहता है, और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सिद्ध होता है। बरंच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पंच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता। पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चंद्र, ग्रह, उपग्रह नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही, पर किसको विदित होती? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिए बैठे रहते।

सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है। जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावैं, बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्‌गुणों का प्रचार करके पंच लोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान्, प्रीतिमान् बना दिया। कंचन बरसने लगा। जहां जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत

उन्नतग्रीव हो गई है, इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो चार लोगों के द्वारा पंच के हृदय में फूट फैला दी। बस, बात की बात में सब के करम फूट गए। चाहे जहां का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहां के अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम ही उन्नति या अवनति का मूल कारण होता है।

जब जहां के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते हैं तब थोड़े से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना—चाहे अति श्लाघनीय उद्देश्य से भी हो पर—अपने जीवन को कंटकमय करना है। जो लोग संसार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं वे मरने के पीछे यश अवश्य पाते हैं, पर कब? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं तभी। पर ऐसे लोग जीते जी आराम से छिनभर नहीं बैठने पाते, क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना पाप है, जिसका दंड-भोग किए बिना किसी का बचाव नहीं। इसमें महात्मापन काम नहीं आता। पर ऐसे पुरुषरत्न कभी कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों करोड़ों में से एक आध दिखाई देते हैं। सो भी किसी ऐसे काम की नींव डालने को जिसका बहुत दिन आगे पीछे लाखों लोगों को शान-गुमान भी नहीं होता। अतः ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है। वे अपने वैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक, हेविन

बहिश्त कहीं से आ जाते होंगे। हमें उनसे क्या। हम सांसारिकों के लिए तो यही सर्वोपरि सुख-साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमुच विनाश की ओर जा रहे हों तो भी उन्हीं का अनुगमन करें। तो देखेंगे कि दुख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है। जैसे कि अगले लोग कह गए हैं कि—

"पंचों शामिल मर गया जैसे गया बरात।"

"मर्गे अम्बोह जशनेदारद।"

जिसके जाति, कुटुम्ब, हेती-व्यवहारी, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुंह से यह कभी नहीं निकलता कि परमेश्वर ने दया की। क्योंकि जब परमेश्वर ने पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसी। बरंच यह कहना चाहिए कि हमारे जीवन की पूंजी में से एक भाग छीन लिया। पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट-मित्रों में से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी। क्या उसके लिए जीने से मरना अधिक प्रिय न होगा? फिर इसमें क्या संदेह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं, पर शक्ति एक ही रखते हैं। जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उसकी प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है। जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत है वह उसकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है। अपने ही लों वह कैसा ही अच्छा क्यों न हो। पर इसमें मीन मेख नहीं है कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा। मरने पर भी अकेला वैकुण्ठ में क्या सुख देखेगा। इसी से कहा है—

"जियत हंसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज"

क्या कोई सकल सद्गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख-सामग्री-संयुक्त, सुवर्ण के मंदिर में भी एकाकी रहके सुख से कुछ काल रह सकता है? ऐसी २ बातों को देख सुन, सोच समझके भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव में फँसके पंच के विरुद्ध हो बैठते हैं, अथवा द्वेषियों का पक्ष समर्थन करने लगते हैं वे हम नहीं जानते कि परमेश्वर, (प्रकृति) दीन, ईमान, धर्म, कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुंह दिखाते होंगे? हमने माना कि थोड़े से हठी, दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा, मिलनी सम्भव है, पर इसके साथ अपनी अंतरात्मा (कानशेन्स) के गले पर छूरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है, और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेख़ी मिटा देता है। यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एवं संतान के लिए लज्जा तो कहीं गई ही नहीं। क्योंकि पंच का बैरी परमेश्वर का बैरी है, और परमेश्वर के बैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—

राखि को सकै रामकर द्रोही।

पाठक! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़ों बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है। अतः आंखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवनकाल में पढ़ी लिखी सृष्टिवाले पंच किस

ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किये हुए मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता और अकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोड़े से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, बरंच लाठी तक खाके हतोत्साह नहीं होते, और स्त्री-पुत्र, धन-जन क्या, बरंच आत्म-विसर्जन तक का उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का अवलंबन करना मंगलदायक न होगा? यदि बहकानेवाले रोचक और भयानक बातों से लाख बार करोड़ प्रकार समझावें तो भी ध्यान न देना चाहिए। इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पंच ही का अनुकरण परम कर्तव्य है। क्योंकि पंच और परमेश्वर का बड़ा गहिरा सम्बन्ध है। बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रखके पंच के अनुकूल मार्ग पर चले जाइये तो दो ही चार मास में देख लीजियेगा कि बड़े २ लोग आपके साथ बड़े स्नेह से सहानुभूति करने लगेंगे, और बड़े २ विरोधी साम, दाम, दंड, भेद से भी आपका कुछ न कर सकेंगे। क्योंकि सब से बड़े परमेश्वर हैं, और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े २ अधिकार पंच महोदय को दे रक्खे हैं। अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपापात्र का कभी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सकता। इससे चाहिए कि इसी क्षण भगवान् पंचवक्त्र का स्मरण करके पंच परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंचपांडव की भांति निश्चिंत रहिएगा।

स्वतंत्र ।

हमारे बाबू साहब ने बरसों स्कूल की ख़ाक छानी है, बीसियों मास्टरों का दिमाग़ चाट डाला है, विलायतभर के ग्रन्थ चरे बैठे हैं; पर आज तक हिस्ट्री, जियोग्रफ़ी आदि रटाने में विद्या-विभाग के अधिकारीगण जितना समय नष्ट कराते हैं, उसका शतांश भी स्वास्थ्य-रक्षा और सदाचार-शिक्षा में लगाया जाता हो तो बतलाइए! यही कारण है कि जितने बी० ए०, एम० ए०, देखने में आते हैं उनका शरीर प्रायः ऐसा ही होता है कि आंधी आवै तो उड़ जाय। इसी कारण उनके बड़े २ ख़यालात या तो देश पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालने पाते वा उलटा असर दिखाते हैं। क्योंकि तन और मन का इतना दृढ़ सम्बंध है कि एक बेकाम हो तो दूसरा भी पूरा काम नहीं दे सकता, और यहां देह के निरोग रखनेवाले नियमों पर आरंभ से आज तक कभी ध्यान ही नहीं पहुंचा। फिर काया के निकम्मेपन में क्या सन्देह है, और ऐसी दशा में दिल और दिमाग़ निर्दोष न हों तो आश्चर्य क्या है! ऊपर से आपको अपने देश के जल-वायु के अनुकूल आहार-विहार आदि नापसंद ठहरे। इससे और भी तन्दुरुस्ती में नेचर का शाप लगा रहता है। इस पर भी जो कोई रोग उभड़ आया तो चौगुने दाम लगाके, अठगुना समय गंवाके विदेशी ही औषधि का व्यवहार करेंगे, जिसका फल प्रत्यक्ष-रूप से चाहे अच्छा भी

दिखाई दे, पर वास्तव में धन और धर्म ही नहीं, बरंच देशीय रहन-सहन के विरुद्ध होने से स्वास्थ्य को भी ठीक नहीं रखता, जन्म-रोगीपने की कोई न कोई डिग्री अवश्य प्राप्त करा देता है !

यदि सौ जैंटिलमैन इकट्ठे हों तो कदाचित् ऐसे दस भी न निकलेंगे जो सचमुच किसी राजरोग की कुछ न कुछ शिकायत न रखते हों। इस दशा में हम कह सकते हैं कि आप-रूप का शरीर तो स्वतंत्र नहीं है, डाक्टर साहब के हाथ का खिलौना है। यदि भूख से अधिक डबल रोटी का चौथाई भाग भी खा लें वा ब्रांडी-देवी का चरणोदक आधा आउंस भी पी लें तो मरना जीना ईश्वर के आधीन है, पर कुछ दिन वा घंटों के लिए जमपुरी के फाटक तक अवश्य हो आवैंगे, और वहां कुछ भेंट चढ़ाये और 'हा हा, हू हू' का गीत गाए बिना न लौटेंगे। फिर कौन कह सकता है कि मिस्टर विदेशदास अपने शरीर से स्वतंत्र हैं ?

और सुनिए, अब वह दिन तो रहे ही नहीं कि देश का धन देश ही में रहता हो, और प्रत्येक व्यवसायी को निश्चय हो कि जिस वर्ष धंधा चल गया उसी वर्ष, वा जिस दिन स्वामी प्रसन्न हो गया उसी दिन, सब दुःख-दारिद्र दूर हो जांयगे। अब तो वह समय लगा है कि तीन खाओ तेरह की भूख सभी को बनी रहती है। रोज़गार-व्यवहार के द्वारा साधारण रीति से निर्वाह होता रहे, यही बहुत है । विशेष कार्यों में व्यय करने के

अवसर पर आज कल सैकड़ा पीछे दश जने भी ऐसे नहीं देख पड़ते जो चिंता से व्यस्त न हो जाते हों। इस पर भी हमारे हिन्दुस्तानी साहब के पिता ने सपूतजी के पढ़ाने में भली चंगी रोकड़ उठा दी है।

इधर आपने जब से स्कूल में पांव रक्खा है तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डालके ख़र्च बढ़ा रक्खा है। यों लेकचर देने में चाहे जैसी सुन लीजिए, पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार ही का पाइएगा! इस पर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देश में अब बहुत नहीं है, जो धाए धूपे बिना अपना तथा कुटुम्ब का पालन कर सकते हों। इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पड़ता है, सो और कुछ न कर सकते हैं, न करने में अपनी इज़्ज़त समझते हैं। अतः हेर फेरकर नौकरी ही की शरण सूझती है। वहां भी काले रंग के कारण इनकी विद्या-बुद्धि का उचित आदर नहीं। ऊपर से भूख के बिना भोजन करने में स्वास्थ्य-नाश हो, खाने के पीछे झपट के चलने से रोगों की उत्पत्ति हो, तो हो, पर डिउटी पर ठीक समय में न पहुंचें तो रहें कहां?

बाजे २ महकमों में अवसर पड़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी, पर छुट्टी का यत्न करें तो नौकरी ही से छुट्टी हो जाने का डर है। इस पर भी जो कहीं मालिक कड़े मिजाज़ का हुवा तो और भी कोढ़ में खाज है, पर उसकी झिड़की

आदि न खाएँ तो रोटी कहां से खाएँ ? यह छूतें न भी हों तो भी नौकरी की जड़ कितनी ? ऐसी २ बातें बहुधा देखकर कौन न कहेगा कि काले रंग के गोरे मिजाज़वाले साहब अपने निर्वाहोपयोगी कर्तव्य में भी स्वतंत्र नहीं हैं।

अब घर की दशा देखिए तो यदि कोऊ और बड़ा बूढ़ा हुवा, और इनका दबैल न हुवा तौ तो जीभ से चिट्ठी का लिफ़ाफ़ा चाटने तक को स्वतंत्रता नहीं। बाहर भले ही जाति, कुजाति, अजाति के साथ भच्छ, कुभच्छ, अभच्छ भच्छन कर आवैं पर देहली पर पांव धरते ही हिन्दू आचार का नाट्य न करें तो किसी काम के न रक्खें जायें। बहुत नहीं तो वाक्य-बाणों ही से छेदके छलनी कर दिये जायं। हयादार को इतना भी थोड़ा नहीं है। हां यदि 'एक लज्जाम्परित्यज त्रैलोक्य विजयी भवेत्' का सिद्धान्त रखते हों, और खाने भर को कमा भी लेते हों वा घर के करता धरता आपही हों तो इतना कर सकते हैं कि बबुआइन कोई सुशिक्षा दें तो उनको डांट लें, पर यह मजाल नहीं है कि उन्हें अपनी राह पर ला सकें, क्योंकि परमेश्वर की दया से अभी भारत की कुलांगनाओं पर कलियुग का पूरा प्रभाव नहीं हुवा। इससे उनमें सनातनधर्म, सत्कर्म, कुलाचार, सुव्यवहार का निरा अभाव भी नहीं है।

आप-सरूप भले ही तीर्थ, व्रत, देव, पितर आदि को कुछ न समझिए पर वे नंगे पांव माघ मास में कोसों की थकावट उठाकर गंगा-यमुनादि का स्नान अवश्य करेंगी, हरतालिका के

दिन चाहे बरसों की रोगिणी क्यों न हों, पर अन्न की कणिका वा जल की बूंद कभी मुंह में न धरेंगी, रामनौमी, जन्माष्टमी, पितृविसर्जनी आदि आने पर, चाहे जैसे हो, थोड़ा बहुत धर्मोत्सव अवश्य करेंगी। सच पूछो तो आर्य्यत्व की स्थिरता में वही अनेकांश श्रद्धा दिखाती हैं, नहीं आपने तो छब्बीसाक्षरी मंत्र पढ़कर चुरुटाग्नि में सभी कुछ स्वाहा कर रक्खा है।

यद्यपि गृहेश्वरी के यजन-भजन का उद्देश्य प्रायः आप ही के मंगलार्थ होता है, पर आप तो मन और वचन से इस देश ही के न ठहरे। फिर यहांवालों के आंतरिक भाव कैसे समझें? बन्दर की ओर बरफ़ी लेकर हाथ उठाओ तौ भी वह ढेला ही समझ कर खी, खी, करता हुआ भागेगा! बिचारी सीधी सादी अबला-बाला ने न कभी विधर्मी शिक्षा पाई है, न मुंह खोलके कभी मरते २ भी अपने पराए लोगों में नाना भांति की जटलें कहने सुनने का साहस रखती हैं। फिर बाबू साहब को कैसे लेक्चरबाज़ी करके समझा दें कि तोता मैना तक मनुष्य की बोली सीखके मनुष्य नहीं हो जाते, फिर आपही राजभाषा सीख कर कैसे राजजातीय हो जायंगे? देह का रंग तो बदल ही नहीं सकते, और सब बातें क्यों कर बदल लीजिएगा? हां, दूसरे की चाल चलकर कृतकार्य तो कोई हुवा नहीं, अपनी हंसी कराना होता है वही करा लीजिए।

अब यहां पर विचारने का स्थल है कि जहां दो मनुष्य न्यारे २ स्वभाव के हों, और एक की बातें दूसरे को घृणित

जान पड़ती हों वहां चित्त की प्रसन्नता किस प्रकार हो सकती है। स्त्री चाहे धर्म के अनुरोध से इनकी कुचाल का सहन भी कर ले, पर लोक-लज्जा के भय से गले में हाथ डालके सैर तो कभी न करैगी, और ऐसा न हुआ तो इनका जन्म सफल होना असंभव है! इससे मन ही मन कुढ़ने व बात २ पर खौखियाने के सिवा कुछ बन नहीं पड़ता, फिर कैसे कहिए कि आप अपने घर में स्वतंत्र हैं!

रही घर के बाहर की बात, वहां अपने ही टाइपवालों में चाहें जैसे गिने जाते हों, पर देश का अधिकांश न इनकी प्यारी भाषा को समझता है, न भेष पसंद करता है, न इनके से आंतरिक और वाह्यिक भावों से रुचि रखता है! इससे बहुत लोग तो इनकी सूरत ही से क्रिष्टान जानकर मुंह बिचकाते हैं, इससे इनका बक २ झक २ करना देशवासियों पर यदि प्रभाव करे भी तो कितना कर सकता है। हां, जो लोग इनके सम्बन्धी हैं, और भली भांति ऊपरी व्यवहारों से परिचय रखते हैं वे कोट पतलून आदि देखके न चौंकेंगे, किन्तु यदि इनके भोजन की खबर पा जायँ तो क्षणभर में दूध की सी मक्खी निकाल बाहर करें। छुवा पानी पीना तो दूर रहा, इन्हें देखके मत्था पटकौवल (दुवा सलाम) तक के रवादार न हों। एक बार हमने एक मित्र से पूछा कि बहुत से अन्यधर्मी और अन्य-जाती हमारे आपके ऐसे मित्र भी हैं, जिनके समागम से जी हुलस उठता है, पर यदि कोई हमारा आपका भैयाचार, नातेदार वा परिचयी

विधर्म्मी हो जाता है— विधर्मी कैसा, किसी नई समाज में नाम तक लिखा लेता है— तो उसे देखके घिन आती है। बोलने को जी नहीं चाहता। इसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा था कि—वेश्याओं के तहां हम तुम जाते हैं कि कुछ काल जी बहलावेंगे, किन्तु यदि कोई अपनी सम्बन्धिनी स्त्री का, बाज़ार में जा बैठना कैसा, गुप्त रीति से भी वारविलासिनियों का सा तनिक भी आचरण रखती हुई सुन पड़े तो उसके पास बैठने वा बातें करने से जी कभी न बहलेगा, बरंच उसका मुंह देखके वा नाम सुनके लज्जा, क्रोध, घृणा आदि के मारे मन में आवैगा कि अपना और उसका जी एक कर डालें।

यों ही पर-पथावालम्बियों का भी हाल समझ लो। यह जीवधारियों का जाति-स्वभाव है कि इतरों में अपनायत का लेश पाकर जैसे अधिक आदर करते हैं वैसे ही अपनों में इतरता की गन्ध भी आती है तो जी बिगाड़ लेते हैं, और जहां एक मनुष्य को बहुत लोगों के रुष्ट हो जाने का भय लगा हो वहां स्वतंत्रता कहां ? अतः हमारे लेख का लक्ष्य महाशय कुटुम्ब की अपेक्षा देश-जातिवालों के मध्य और भी परतंत्र हैं।

यदि यह समझा जाय कि घर-दुवार, देश जाति को तिलांजलि देकर जिनके साथ तन्मय होने के अभिलाषी हैं उनमें जा मिलें तो स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। यह आशा निरी दुराशा है। उच्च प्रकृति के अंगरेज़ ऐसों को इस विचार से तुच्छ समझते हैं कि जो अपनों ही का नहीं हुवा वह हमारा क्या

होगा ? बुद्धिमानों की आज्ञा है कि जिसके साथ मित्रता करनी हो उसका पहिले यह पता लगा लो कि वह अपने पहिले मित्रों के साथ कैसा बर्ताव रखता था। रहे अनुदार स्वभाव वाले गौरांग, वह विद्या, बुद्धि, सौजन्य आदि पर पीछे दृष्टि करते होंगे, पहिले काला रंग देख कर और नेटिव नाम ही सुनकर घृणापात्र समझ लेते हैं। हां, अपना रुपया और समय नष्ट करके मानापमान का विचार छोड़के साधारणों की स्तुति-प्रार्थनादि करते रहैं तो ज़बानी ख़ातिर वा मन के धन की कमी नहीं है,.. फिर उसे पाके कोई सच्चा स्वतंत्र क्या होगा ?

इसके सिवा किसी से ऋण लें तो चुकाने में स्वतंत्रता नहीं, कोई राज-नियम के विरुद्ध काम कर बैठें तो दंड-प्राप्ति में स्वतंत्र नहीं, नेचर का विरोध करें तो दुःख सहने में स्वतंत्र नहीं, सामर्थ्य का तनिक भी उल्लंघन करने पर किसी काम में स्वतंत्र नहीं, कोई प्रबल मनुष्य, पशु, वा रोग आ घेरे तो जान बचाने में स्वतंत्र नहीं, मरने जीने में स्वतंत्र नहीं, कहां तक कहिए, अपने सिर के एक बाल को इच्छानुसार उजला, काला करने में स्वतंत्र नहीं, जिधर देखो परतंत्रता ही दृष्टि पड़ती है। पर आप अपने को स्वतंत्र ही नहीं, बरच स्वतंत्रता का तत्वज्ञ और प्रचारकर्ता माने बैठे हैं ! क्या कोई बतला सकता है कि यह माया-गुलाम साहब किस बात में स्वतंत्र हैं ?

हां, हमसे सुनो, आप वेद-शास्त्र-पुराणादि पर राय देने में स्वतंत्र हैं, संस्कृत का काला अक्षर नहीं जानते, हिन्दी के भी साहित्य को ख़ाक धूल नहीं समझते, पर इसका पूरा ज्ञान रखते हैं कि वेद पुराने जंगलियों के गीत हैं, वा पुराण स्वार्थियों की गढ़ी हुई झूठी कहानियां हैं, धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों का पक्षपात भरा हुआ है, ज्योतिष तथा मन्त्र-शास्त्रादि ठगविद्या हैं। ऐसी २ बे सिर-पैर की सत्यानाशी रागिनी अलापने में स्वतंत्र हैं। यदि ऐसी बातें इन्हीं के पेट में बनी रहें तो भी अधिक भय नहीं है, समझनेवाले समझ लें कि थोड़े से आत्मिक रोगी भी देश में पड़े हैं, उनके लुढ़कते ही 'ख़सकम जहान पाक' हो जायगा। पर यह स्वतंत्रता के भुक्खड़ व्याख्यानों और लेखों के द्वारा भारत-संतानमात्र को अपना पिछलगा बनाने में सयत्न रहते हैं, यही बड़ी भारी खाध है।

यद्यपि इनके मनोरथों की सफलता पूरी क्या अधूरी भी नहीं हो सकती, पर जो इन्हीं के से कच्ची खोपड़ी और विलायती दिमाग़वाले हैं वह बकवास सुनते ही अपनी बनगैली चाल में दृढ़ हो जाते हैं, और 'योंहीं रुलासी बैठी थी ऊपर से भैया आगया' का उदाहरण बन बैठते हैं, तथा इस रीति से ऐसों की संख्या कुछ न कुछ बढ़ रहती, औरहै सम्भव है कि योंही ढचरा चला जाय तो और भी बढ़कर भारतीयत्व के पक्ष में बुरा फल दिखावै।

वहीं विदेश के बुद्धिमान तनिक भी हमारे सद्विद्या-भंडार

से परिचित होते हैं, तो प्राचीनकाल के महर्षियों की बुद्धि पर बलि २ जाते हैं, बरंच बहुतेरे उनकी आज्ञा पर भी चलने लगते हैं, और इसके पुरस्कार में परमात्मा उन्हें सुख-सुयश का भागी प्रत्यक्ष में बना देता है, तथा परोक्ष के लिए अनन्त मङ्गल का निश्चय उनकी आत्मा को आप हो जाता है। यह देखकर भी जिस हिन्दू की आखें न खुलें, और इतना न सूझे कि जिन दिव्य रत्नों को दूर २ के परीक्षक भी गौरव से देखते हैं, उन्हें कांच बतलाना अपनी ही मनोदृष्टि का दोष दिखलाना वा अपने अग्रगन्ता की अतिमानुषी बुद्धि का बैभव जतलाना है, और जो ऐसा साहस करने में स्वतंत्र बनता है उसके लिए विचारशील-मात्र कह सकते हैं कि यह स्वतंत्रता एक प्रकार का मालीखूलिया (उन्माद) है, जिसका लक्षण है—किसी बात वा वस्तु को कुछ का कुछ समझ लेना, वा बिन जानी बात में अपने को ज्ञाता एवं शक्ति से बाहर काम करने में समर्थ मान बैठना।

यह रोग बहुधा मस्तिष्क-शक्ति की हीनता से उत्पन्न होता है, और बहुत काल तक एक ही प्रकार के विचार में मग्न रहने से बद्धमूल हो जाता है। आश्चर्य नहीं कि स्वतंत्र देश के स्वतंत्राचारियों ही की बातें लड़कपन से सुनते २ और अपनी रीति-नीति का कुछ ज्ञान-गौरव न होने पर दूसरों के मुख से उनकी निन्दा सहते २ ऐसा भ्रम हो जाता हो कि हम स्वतंत्र हैं, तथा इस स्वतंत्रता का परिचय देने में और ठौर सुभीता न देखकर अनबोल पुस्तकों ही के सिद्धान्तों पर मुंह मारना सहज

समझकर ऐसा कर उठाते हों। इससे हमारी समझ में तो और कोई स्वतंत्रता न होने पर केवल इसी रीति की स्वतंत्रता को दिमाग़ का ख़लल समझना चाहिए। फिर भला जिनके विषय में हम इतना बक गए वह बुद्धि-विभ्रम के रोगी हैं वा स्वतंत्र हैं?

परतंत्रता के जो २ स्थान ऊपर गिना आए हैं उस ढंग के स्थलों पर स्वतंत्रता दिखावैं तो शीघ्र ही धृष्टता का फल मिल जाता है। इससे स्वतंत्र नहीं बनते। यदि परमेश्वर हमारा कहा मानें तो हम अनुरोध करें कि देव, पितृ, धर्म-ग्रन्थादि की निन्दा जिस समय कोई करे उसी समय उसके मुंह में और नहीं तो एक ऐसी फुड़िया ही उपजा दिया कीजिए, जिसकी पीड़ा से दो चार दिन नींद-भूख के लाले पड़े रहें, अथवा पंचों में हमारा चलता हो तो उन्हीं से निवेदन करें कि निंदकमात्र के लिए जातीय कठिन दंड ठहरा दीजिए फिर देखें बाबू साहब कैसे स्वतंत्र हैं!

कविता (सामयिक)
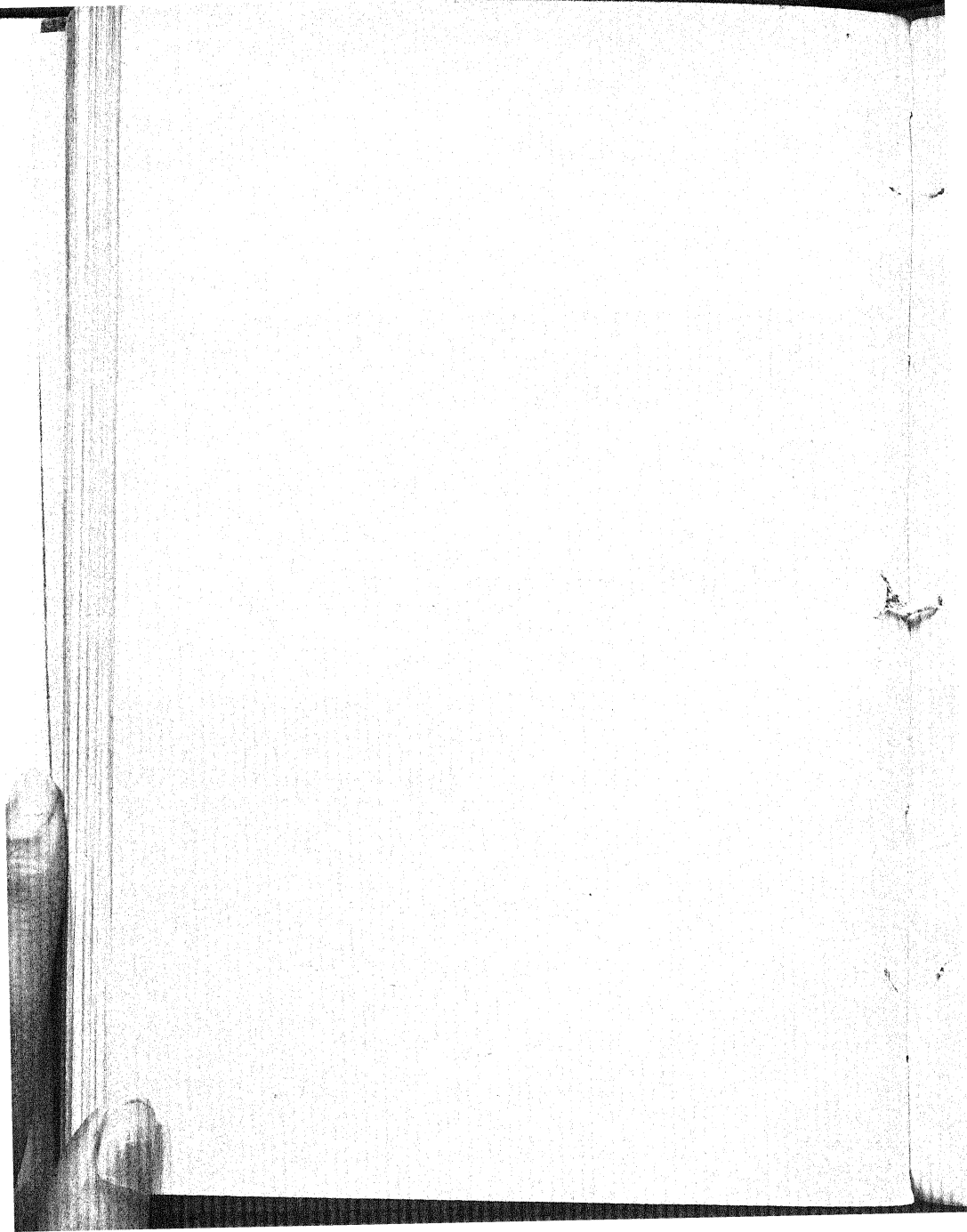
स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर।

करुणानिधि कहवाय हाय हरि आज कहा यह कीन्हों।
देशउधार जतन तत्पर वर पुरुषरतन हरि लीन्हों॥
जो ऐसेहि बोझ लगत हो काल-चक्र तव हाथे।
कस न गिराय दियो काहू भारत-कलंक के माथे॥
जिन निजसरबसु केवल हम हित तजत बिलम्ब न लाई।
तिनसों हाय हमैं बिछुरावत तुम कहँ दया न आई॥
परै अचेत मोह-निद्रा में जे नित सबहिं जगावैं।
कछु कछु आँख खुलै पर उनको हाय कहां हम पावैं॥
भरत भूमि अब कहा करैगो? इन धूतन की आशा।
जिन निज पापी पेट हेत सब आरज गौरव नाशा॥
सुनियत शत शत बरस जियहिं बहु मानुष सब गुन हीना।
स्वामी दयानन्द सरस्वति की तौ बैसहु बहुत रहीना॥
यूरुप अमरीका लगि हा! हा! को अब नाम करैगो।
श्रुति कलङ्क गो दुख द्विज दुर्गुन को अब हा न हरैगो॥
गारी खाय अनादर सहि कै विद्या धर्म प्रचारै।
ऐसो कोउ न दिखाय हाय स्वामी तौ स्वर्ग सिधारै॥
उनइस सै चालिस सम्वत की बैरिन भई दिवारी।
दीनबन्धु उलटी कीन्हीं तुम हाय दियो दुख भारी॥
कहँ लगि कोउ आंसुन को रोकै कहँ लगि मनु समझावै।

ऐसो कठिन पीर में कैसहु धीरज हाय न आवै ॥
देशभक्त दुखिया बुध जन के जिय ते कोऊ पूछे।
तुम तौ अपने मन के राजा सब दुख सुख ते छूछे ॥
तुम जो कछू करो सो नीको यह तो हमहूँ जाने।
पै तुम्हरे प्रताप की प्यारे! बुधि नहि आज ठिकाने ॥

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के स्वास्थ्य लाभ के उपलक्ष्य में।

(क़सीदा)

अहा हा क्या मज़ा है क्या बहार बारिश आई है यह।
फ़स्ले फ़रहत अफ़ज़ा कैसी सबके जी को भाई है॥
जिधर देखो तमाशाए तरावत बख़्श है तुर्फ़ा।
जिसे देखो अजब एक ताज़गी चिहरे पै छाई है॥
इधर जंगल में मोरों को चढ़ी है नाचने की धुन।
उधर गुलशन में कोयल को सरे नग़्मा सराई है॥
कहे गर इन दिनों वायज़ कि मै पीना नहीं अच्छा।
तो बेशक मस्त कह बैठें कि तुमने भांग खाई है॥
किसी की कोई कुछ पर्वा नहीं करता ज़माने में।
सब अपने रंग माते हैं कुछ ऐसी बू समाई है॥

खिले जाते हैं जामे में नहीं फूले समाते हैं ।
सबा ने गोशे गुल में हां यह खुश खबरी सुनाई है ॥
कि जिसके नाम पर हर ज़िन्दा दिल सौ जी से कुर्बां हैं ।
ख़ुदा का शुक्र वाजिब है शिफ़ा आज उसने पाई है ॥
भला वह कौन है यह मुज़दा सुन कर जो न कह उठता ।
मुबारक हो मुबारक हो बधाई बधाई है ॥
ख़्याल आया मुझे दिल में य किसका ग़ुस्ले सेहत है ।
कि सारे हिन्द में जिस्की खुशी सबने मनाई है ॥
तो मुलहिम ने कहा बाबू हरिश्चन्द्र इसमें पाक उस्का ।
नहीं मालूम ? जिसकी मदहख़्वां सारी खुदाई है ॥
बनारस की ज़मी नाज़ां है जिसकी पायबोसी पर ।
अदब से जिसके आगे चर्ख़ ने गरदन झुकाई है ॥
वही महताबे हिन्दुस्तां वही ग़ैरत दिहे नैयर ।
कि जिसने दिल से हर हिन्दू के तारीकी मिटाई है ॥
वही ईसाए दौरां जिसने हम क़ौमों की हिम्मत की ।
हज़ारों साल पीछे लाशे बोसीदा जिलाई है ॥
वही उसने कि उर्दू देवनी के पंजए ज़ुलसे ।
बसद तदबीरो हिम्मत जान हिन्दी की बचाई है ॥
वही जो आज मालिक हैं सब इल्मों के ख़ज़ाने का ।
वही मुल्के हमा ख़ूबी पय जिसकी बादशाही है ॥
ज़िहे वह अफ़ज़लुल फ़ज़ुला कि आज उसकी शहादत में ।
ब सिद्क़े दिल हर एक उस्ताद ने उंगली उठाई है ॥

सब उसके काम ऐसे हैं कि जिन को देख हैरत से ।
हर एक आक़िल ने अपनी दाँत में उंगली दबाई है ॥
उसे रहबर अगर इस मुल्क का कहिये तो लावुद है ।
उसी ने सबको पहिले राहे बहबूदी सुझाई है ॥
बहुत लोगों को है दावा वतन की ख़ैरख्वाही का ।
कोई पूछै तो इनसे चाल यह किसकी उड़ाई है ॥
तरक़्क़ी क्या है ? कैसे होय है ? होता है क्या उससे ?
किसी को कुछ ख़बर भी थी उसी ने सब बताई है ॥
सिवा उसके जो सच पूछो तो ऐसा कौन है जिसने ।
निकाली बात जो कुछ मुँह से है वह कर दिखाई है ॥
उठै है किससे बारे इश्क़े हक़ हमदरदिये अख़वां ।
सिवा उसके यह हिम्मत किसको कुदरत किसने पाई है ॥
बरहमन यह सुरूर आया मुझे है वस्फ़ उसका सुनने से ।
कि मेरी रूह इस तन में नहीं फूली समाई है ॥
लिखूं तारीफ़ कुछ उसकी यह मेरी तबअ ने चाहा ।
तो फिर मुहहिम ने फ़रमाया गुमां बेजा यह भाई है ॥
उसे क्या कोई दिखलावेगा अपने ख़ामः के जौहर ।
रसा है वह ख़ुद उसके ज़िहन की वां तक रसाई है ॥
कि जिस जा ख्वाब में पहुंचे ख़याल इंसां का क्या मुमकिन ।
फ़रिश्तों ने जहां जाने में अकसर जक उठाई है ॥
जहां तक कीजिये तौसीफ़ उसकी सब बजा लेकिन ।
नहीं उरफ़ी को दावा दूसरों की क्या चलाई है ॥

यही बेहतर कि उसके हक़ में हम हरदम दुवा माँगें।
यही बस फर्ज़ अपना है इसी में सब भलाई है॥
ख़ुदाया ख़ुश रहे वह फ़ख़्ते आलम रौज़े महशर तक।
कि जिसकी ज़ाते बा बरकत को ज़ेबा सब बड़ाई है॥

चार्ल्स ब्रैडला की मृत्यु पर।

हाय आज काहू बिधि धीरज धरत बनै ना।
फूटि बह्यो रकत रुकतो रोकै नहिं नैना॥
हाय! हाय! हम कहँ सूझत सब जग अँधियारो।
बिछुरि गयो हा उर-पुर-आस प्रकासन हारो॥
हाय विधाता फाटि पर्‌यो यह बज्र कहां ते।
उमड़ि उठ्यो हा दैव! सोक-सागर चहुंघाते॥
अरे काल-चंडाल! तरस तोहिं नेक न आयो।
निरबल, बूढ़े, रोग-ग्रसित पर दाँत लगायो॥
हाय अभागी हिन्द! भाग तेरे ऐसे ही।
बेगहि जात बिलाय हाय तव सहज सनेही॥
दयानन्द, हरिचंद अलखधारी केशव कर।
दुख भूल्यो ज्यों त्यों करि छाती धरि पाथर॥
तब लगि हा दुरदैव, और इक घाव लगायो।
रहो सह्यो अवलम्ब अंकुरहि काटि मिराओ॥
हाय हमारे दुख कहं निज दुख समझन हारे।

प्यारे मिस्टर चार्ल्स ब्रैडला कहां सिधारे ॥
हाय ब्रिटिश बाटिका कल्पतरु जग हितकारी ।
कहं ढूंढ़ै दुखिया भारत सुत छांह तिहारी ॥
को अब तुम बिन इंग्लिशपुर की बड़ी सभा महं ।
दृढ़ प्रण धरि लरि लरि पर चरिहै हमरे दुख कहं ॥
को बिन स्वारथ दुखियन धीरज दान करन हित ।
रुज सज्जा ते उठि ऐहै सागर लांघत इति ॥
को हम हित अपने भाइन की सकुच न करिहै ।
निहचल निहछल निडर नीति पथ को पग धरिहै ॥
यों तो हमरे हितू बनहिं बहुधा बहुतेरे ।
पै निज पापी पेट भरन विषयन के चेरे ॥
तनिक विघ्न लखि होंहिं और के औरहि छिन में ।
कहा आस विश्वास करै धारन कोउ तिन में ॥
पर उपकारक तुमहिं रहे सत वृत जग माहीं ।
जिनहिं न्याय पथ चलत ईश्वरहु कर डर नाहीं ॥
हाय हाय रे हाय दिखाय न कोउ अब ऐसो ।
दीन हीन देशी न लखै निज कुटुम सरिस जो ॥
हाय राम तुम अबहूं दयासागर कहवावत ।
दया न आई नेक हमहिं वासों बिछुरावत ॥
जाके इक इक सुगुन सुमिरि फाटति है छाती ।
हाय ब्रैडला हाय हिन्द के सत्य सँघाती ॥
भली आस दै भली रीति सों प्रीति निबाही ।

भयो अचानक दुसह दुःख दै हरि पुर राही ॥
तेरे बिन हा हन्त कतहुं कछु नहिं सुहायरे ।
हाय हायरे हाय हायरे हाय हायरे ॥
कहां जायं का करैं कौन विधि जिय समुझावैं ।
हम कोउ ऋषि मुनि नाहिं क्यों न फिर ज्ञान गंवावैं ॥
जो जनम्यो सो अवसि मरैगो हमहूं जानैं ।
पै ऐसो दुख देखि चित्त नहिं रहत ठिकानैं ॥
कबहुं काहु बिन कछु जग कारज रहत न अटके ।
पै ऐसे थल नहिं मानत मन बिन सिर पटके ॥
याते रहि रहि कहि कहि आवत उर ते एही ।
हाय ब्रैडला हाय सत्य के सहज सनेही ॥
असित पंचमी माघ की हरि शशि संवत् सात ।
स्वर्ग सिधारे ब्रैडला तजि मित्रन बिलखात ॥

होली है अथवा होरी है ।

बीती सीतकाल की सांसति ब्यार बसन्ती डोली है ।
फूले फूल बिपिन बागन के जीह कोकिलन खोली है ॥
बदली गति मति जड़ चेतन की सुखमा सुखद अतोली है ।
भयो नयो सो जगत देखियत अहो आय गइ होली है ॥१॥
यों तो माँह सुदी पाँचे ते उर उमङ्ग नहिं थोरी है ।
राग रङ्ग रस चहल पहल की चरचा चारहुं ओरी है ॥

पै अब तो फागुन महिना है मस्ती को जुनि चोरी है ।
यामें कौ अभागि ऐसो जाहि चढ़त नहि होरी है ॥२॥
जब ह्वै चुक्यो होलिका पूजन चढ़ि भइ अच्छत रोली है ।
तब काहे की लाज कौन डर सब विधि उचित मखोली है ॥
आओ चलि देखिये कहां कहं कैसी कैसी टोली है ।
केहि केहि के सिर कौन कौन से बाहन आई होली है ॥३॥
आहा ! अजब रङ्ग है सब पै देह न तनिको कोरी है ।
कारे पीले लाल रंग सों लथ पथ पाग पिछौरी है ॥
कर मुख पै लपिट्यो लखात काजर गुलाल अरु रोरी है ।
नख ते सिख लौं छाय रही बहु रंग रंगीली होरी है ॥४॥
कतहुं कीच उछरै कहुं पानी कहुं कहुं माटी घोली है ।
जूती उछरै धूरि उड़ै कहुं गाली गीत ठठोली है ॥
कतहुं बिंदुली देत समय आये २— की बोली है ।
बिना खरच हूं हंसी खुशी में दिवस बितावत होली है ॥५॥
कोऊ डफ कोउ ढोल बजावत कोउ झांझ की जोरी है ।
कोऊ गावत कोउ बकत निलज ह्वै बातैं फोरी फोरी है ॥
कोऊ बेढंग नाच रह्यो कोउ पीटत वृथा थपोरी है ।
बैठे ठाढ़े चलत मिलत जग भाखत होरी होरी है ॥६॥
कहुं पिचकारी चलै रङ्ग की कहुं अबीर की झोली है ।
कहुं कबीर कहुं फाग होत कहुं हांसी बोली ठोली है ॥
कहुं दूधिया भांग छनै कहुं जाती बोतल खोली है ।
जित देखो तित भांति भांति से मोद मचावत होली है ॥७॥

कोऊ भाट बने डोले है संग मैं भाटिन गोरी गोरी है ।
सुथरे साईं बन्यो फिरै कोउ लै डंडन की जोरी है ॥
साहब मेम कञ्जरी कञ्जर कुंजड़ा सिड़ी अघोरी है ।
गलियन गलियन विविध रूप के स्वांग दिखावत होरी है ॥८॥
नृत्य सभा में नव रसिकन की लसति रंगीली टोली है ।
बीच बिराजति बार बधूटी सूरत भोली भोली है ॥
देति महासुख बात २ में निधरक हंसी ठठोली है ।
हीय हरति वह गोरे मुख सो मधुर सुरन की होली है ॥६॥
निज निज बित अनुसार सबन के सुख सीमा इक ठोरी है ।
कुशल मनावत बरस बरस की जाकी बुधि नहिं कोरी है ॥
बालक युवक वृद्ध नर नारिन अति उछाह चहुं ओरी है ।
सबके मुख सुनियत घर बाहर होरी है भइ होरी है ॥१०॥
याहू अवसर देश दशा की सुधि दुख देति अतोली है ।
सब प्रकार सों देखि दीनता लगति हिए जनु गोली है ॥
दिन दिन निरबल निरधन निरबस होति प्रजा अति भोली है ।
हाय कौन सुख देखि समुझिये अजहु हमारे होली है ॥११॥
कहं कञ्चन पिचकारी है कहं केसर भरी कटोरी है ।
कहं निचिन्त नर नारिन को गन बिहरत ह्वै इक ठोरी है ॥
चोआ चन्दन अतर अरगजा कहुं बरसत केहि ओरी है ।
ह्वै गई सपने की सी सम्पति रही कथन में होरी है ॥१२॥
कटि गये कटे जात किंसुक बन बिकत लकरियों तोली है ।
टेसू फूल मिलत औषधि इव पैसा पुरियों घोली है ॥

महंगी और टिकस के मारे सगरी वस्तु अमोली है ।
कौन भांति त्योहार मनैऐ कैसे कहिए होली है ॥१३॥
भूखो मरत किसान तहूं पर कर हित उपट न थोरी है ।
गारी देत दुष्ट चपरासी तकति बिचारी छोरी है ॥
बात कहें बिन लात लगति है गरदन जाति मरोरी है ।
केहि बिधि दुखिया दिल समझावै कैसे जानै होरी है ॥१४॥
बिन रुजगार बनिक जन रोवैं गांठ सबन की पोली है ।
लाग्यो रहत दिवाली को डर जबते कोठी खोली है ॥
अन्धा धुन्ध टिक्कस चन्दा ने सारी सम्पति ढोली है ।
ताहू पै तशख़ीस-करैया द्वार मचावत होली है ॥१५॥
दीन प्रजहि घृत दूध अन्न की आस रही इक ओरी है ।
साग पात संग नोन तेल हू की तरसनि नहिं थोरी है ॥
पर्यो झोपड़ी मांहि छुधित नित रोवत छोरा छोरी है ।
ज्यों त्यों करि काटत दुख जीवन का सूझति तेहि होरी है ॥१६॥
ह्यां की रीति नीति दुख सुख सों मति गति जिनकी पोली है ।
हम पर मन मानी प्रभुता की राह आय उन खोली है ॥
प्रजा पुंज ममता बिन तिन हिन जो चेती कर सोली है ।
बरबस बिबस हिन्द बासिन की कहा दिवाली होली है ॥१७॥
राजकुंअर दरसन आश्रित की काहू इज्ज़त बोरी है ।
निर अपराधिन को काहू ने कैद कियों बर जोरी है ॥
काहू ने मंदिर ढहवायो हठ सों मूरति तोरी है ।
यह गति देखि कौन सहृदय के जिय में जरत न होरी है ॥१८॥

राह चलत हन्टर हनिबो कोउ समझत सहज ठठोली है ।
कोऊ बूट प्रहार करत कोऊ निधरक मारत गोली है ॥
ज़बरदस्त की बीसों बिसुवा कोऊ सकत न बोली है ।
हा बिजयिनि ! तब प्रजा भाग में चहुं दिशि लागी होली है ॥१९॥
हा अभाग तव हाथ अधौगति छाय रही चहुं ओरी है ।
ताहू पर घर घर जन जन में मत विवाद मुड़ फोरी है ॥
जाने काह कियों चाहत विधि अविधिन दीसति थोरी है ।
मेरे चित याही चिन्ता सों जरत रहति नित होरी है ॥२०॥
अहो प्रेमनिधि प्राणनाथ व्याकुलता मोहि अतोली है ।
जग है सुखित दुखित मैं, यहि छिन कौन पवन धौं डोली है ॥
मेरे प्यारे जीवनधन, बस अब नहिं उचित बतोली है ।
धाय आय दुख हरो बेगि नहिं मेरी गति सब होली है ॥२१॥
अरे निठुर छलिया निर्मोही, कौन बानि यह तोरी है ।
पीर न जानत काहू की बस एक सिखी चित चोरी है ॥
ऐसेहु अवसर दया करत नहिं अजहुं वैसिही त्योरी है ।
हा हा कहा अजहुं तरसै हम ? अरे आज तौ होरी है ॥२२॥
अब नहिं सही जात निठुराई अन्त भई बस होली है ।
अपने सों ऐसी नहिं चहिये बहुत करी करि जोली है ॥
बरस दिना को दिन है प्रियतम, यह शुभ घरी अमोली है ।
चूकि छमौ निज दिशि देखो आओ मिलि जाओ होली है ॥२३॥
आज लाज को काज कहा है फाग मचो चहुं ओरी है ।
भेंटौ मोंहि निसंक अंक भरि कछु काहू की चोरी है ॥

छुवन देहु ससि मुख गुलाल मिस यहै साध बस मोरी है।
गारी गाओ रंग बरसाओ मोद मचाओ होरी है ॥२४॥
हम तुम एक होंहि तन मन सों यह आनन्द अतोली है।
या मैं काऊ कछू कहै तो समझैं सहज मखोली है॥
प्रेमदास अति आस सहित यह मांगत ओड़े ओली है।
पूजों इतों मनोरथ प्यारे आज बड़ौ दिन होली है ॥२५॥

कविता (परिहासपूर्ण)

ग़ज़ल.

विवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे कैसे।
'कलाम आते हैं दरमियां कैसे कैसे' ॥
जहां देखिये म्लेछ सेना के हाथों।
'मिटे नामियों के निशां कैसे कैसे' ॥
बने पढ़ के गौरंड भाषा द्विजाती।
'मुरीदाने पीरो-मुग़ां कैसे कैसे' ॥
बसो मूर्खते देवि आर्य्यों के जी में।
'तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे कैसे' ॥
अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा।
'हमारे भी हैं मिहरबाँ कैसे कैसे' ॥
न आई दया गो-भक्षियों को।
'तड़पते रहे नीमजां कैसे कैसे' ॥
विधाता ने याँ मक्खियाँ मारने को।
'बनाये हैं खुसरू जवां कैसे कैसे' ॥
अभी देखिये क्या दशा देश की हो।
'बदलता है रंग आसमाँ कैसे कैसे' ॥
हैं निर्गन्ध इस भारती वाटिका के।
'गुलो लाल वो अरगवां कैसे कैसे' ॥

हमें वह दुखद हाल भूला है जिसने।
'तवाना किये नातवाँ कैसे कैसे'॥
प्रताप अपनी होटल में निर्लज्जता के।
'मज़े लूटती है ज़बां कैसे कैसे'॥

ग़ज़ल

वह बदख़ू राह क्या जाने वफ़ा की,
'अगर ग़फ़लत से बाज़ आया जफ़ा की'।
न मारी गाय गोचारन किया बन्द,
'तलाफ़ी की जो ज़ालिम ने तो क्या की'।
मियाँ आये हैं बेगारी पकड़ने,
'कहे देती है शोख़ी नक़्शेपा की'।
पुलिस ने और बदकारों को शह दी,
'मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'।
जो काफ़िर कर गया मन्दिर में बिहत,
'वह जाता है दुहाई है ख़ुदा की'।
शबे क़त्ल आगरे के हिन्दुओं पर,
'हक़ीक़त खुल गई रोज़े जज़ा की'।
ख़बर हाकिम को दें इस फ़िक्र में हाय,
'घटा की रात और हसरत बढ़ा की'।
कहा अब हम मरे साहब कलक्टर,

'कहा मैं क्या करूँ मरज़ी ख़ुदा की'।
ज़मीं पर किसके हो हिन्दू रहें अब,
'ख़बर लादे कोई तहतुस्सरा की'।
कोई पूछे तो हिन्दुस्तानियों से,
'कि तुमने किस तवक्क़ा पर वफ़ा की'।
उसे मोमिन न समझो ऐ बरहमन,
'सताये जो कोई ख़िलक़त ख़ुदा की'।

ककाराष्टक ।

कलह करावन माहिं परम पंडित कलुषाकर ।
कोटिन कल्पित पंथ प्रचारि सधर्म नीति हर ॥
काम कला सिसु ताहि मोहिं सिखवत बल नासत ।
कहुं मंहगी कहुं कुरुज भांति भांतिन परकाशत ॥
करके मिस दीन प्रजान कर सब प्रकार सरबस हरन ।
कलि राज कपटमय जयति जय भारत कहं गारत करन ॥१॥
करुणानिधि पद बिमुख देव देवी बहु मानत ।
कन्या अरु कामिन सराप लहि पाप न जानत ॥
केवल दायज लेत और उद्योग न भावत ।
करि बकरा भच्छन निज पेटहि कबर बनावत ॥
का खा गा घा हू बिन पढ़े तिरबेदी पदवी धरन ।
कलह प्रिय जयति कनौजिया भारत कहं गारत करन ॥२॥

कलिया और शराब बिना नहिं कौर उठावत।
केश भेष महं निपट नजाकत नितहि दिखावत ॥
केवल पूजा तजि न और आरजपन राखत।
कौन दूसरी आस जु निज भाषहु नहिं भाषत ॥
कसबिन संग काटत बयस वर एक न छत्रिय आचरन।
कायस्थ बंश कलि प्रिय जयतु भारत कहं गारत करन ॥३॥
कुलवंतन कहं देत कुकृति कर सविध सुभीता।
कम दामन मद, मास, मीन, मैथुन चित चीता ॥
काहू सो न कुपथिन कर कछु भेद बखानत।
कौल धर्म के सकल सबिध संकेतहि जानत ॥
कलवरिया तीरथ थापि बरबनि दीक्षित तारन तरन।
कलि भंडारी, कलवार जय भारत कहं गारत करन ॥४॥
कलह कुबच कुलवान सिसुन कहं सहज सिखावत।
कांधे डोली धरि पापिन इत उत पहुंचावत ॥
कोटिन कीटन मछरिन कहं हंसि २ संहारत।
कबहुं चोर संग मिलत साह कर भवन उजारत ॥
कंठी बांधे भगतहु बने घात न चूकत घुसि घरन।
कलि दूत कहारहु धन्य हैं भारत के गारत करन ॥५॥
करत रहत पशु घात दया की छुवत न छाहीं।
केवल नामहि हिन्दू यवन सांचहु कछु नाहीं ॥
काहू कर नहिं शील करत ऐंठत सबही सन।
करि निज पाप प्रसंस दुखावत रहत सुजन मन ॥

करुना बरुनालय विष्णु की निरबल परजा संहरन ।
कलि भूपति सेन कसाय गत भारत के गारत करन ॥६॥
केवल धन हित दरसावत झूठे सनेह कहं ।
काम अन्ध अज्ञानिन मूंड़हिं बात बात महं ॥
करहिं आशरय दान चोर ज्वारिन व्यभिचारन ।
काल पाय सिखवहिं कुकर्म बालक अरु नारिन ॥
कुटिलाई की कुशला सविधि मूढ़ धनिक सेवित चरन ।
कलि महाशक्ति कंचन जयतु भारत कहं गारत करन ॥७॥
कोऊ काहू को न कतहुं न सतकर्म सहायक ।
केवल बात बनाय बनत सहसन सब लायक ॥
कुटिलन सों ठग जाहिं ठगहिं सूधे सुहृदन कहं ।
करहिं कुकर्म करोरि छिपावहिं न्याय धर्म महं ॥
कुछ डरत नाहिं जगदीश कहं करत कपटमय आचरन ।
कलियुग रजधानी कानपुर भारत कहं गारत करन ॥८॥
इति श्री दग्ध हृदयाचार्य विरचितं ककाराष्टकं समाप्तम् ।

जन्म सुफल कब होय ?

श्री लार्ड रिपन उवाच ।

सब कलंक सर्कार के जायं सहजही धोय ।
"राजा राज प्रजा सुखी" जन्म सुफल तब होय ॥१॥

गौराङ्गदेव उवाच ।

नित हमरी लातैं सहैं हिन्दू सब धन खोय ।
खुलै न "इङ्गलिश पालिसी" जन्म सुफल तब होय ॥२॥

पादरी साहब उवाच ।

हम जो चाहें सो करैं पै दुलखै मति कोय ।
जग हमार चेला बने जन्म सुफल तब होय ॥३॥

भेड़ राज उवाच ।

हिन्दु मिलैं बरु धूर में, बरु थूकहिं मोहि लोय ।
पै अपनावहिं श्वेत प्रभु जन्म सुफल तब होय ॥४॥

गौरण्डदास उवाच ।

जग जाने इङ्गलिश हमैं बाणी बस्त्रहि जोय ।
मिटै बदन कर श्याम रंग जन्म सुफल तब होय ॥५॥

हज़रत उवाच ।

घर न सनहकी हू रहैं कह नवाब सब कोय ।
हिन्दू नित हम पर कुढ़ैं जन्म सुफल तब होय ॥६॥

सेठ उवाच ।

बुधि विद्या बल मनुजता छुवहि न हम कहँ कोय ।
लछमिनियां घर में बसै जन्म सुफल तब होय ॥७॥

अमीर उवाच ।

हवा न लागे देह पर करैं खुशामद लोय ।
कोउ न खरी हमसे कहै जन्म सुफल तब होय ॥८॥

राजा उवाच ।

बरु ऊपरी दिखाउ में जाहि खजानों खोय ।
तोप सलामी की बढ़ैं जन्म सुफल तब होय ॥६॥

बुढ़ऊ उवाच ।

हारिल की लकरी गहे हमहि न छेड़ै कोय ।
अंधियारेहि में तन छुटै जन्म सुफल तब होय ॥१०॥

लिकपिट्टन उवाच ।

लोटिया थारी काल्हि ही लहनदार लें ढोय ।
होय तारीफ़ बरात की जन्म सुफल तब होय ॥११॥

पुरोहित उवाच ।

बनियन की बुधि धरम धन गंगा देहु डुबोय ।
नित्त टका सीधा मिलै जन्म सुफल तब होय ॥१२॥

कनवजिया उवाच ।

करिया अच्छर बिन हमैं कहैं त्रिवेदी लोय ।
मरे बिटेवा मीच बिन जन्म सुफल तब होय ॥१३॥

बाल विधवा उवाच ।

सती होन सर्कार दे नाहिं तु पंडित लोय ।
पुनर्विवाह प्रचार हीं जन्म सुफल तब होय ॥१४॥

कान्यकुब्ज कन्या उवाच ।

मरैं बड़कुला और मम मरैं जु पुरिखा लोय ।
चिट्ठी पठवैं नर्क से जन्म सुफल तब होय ॥१५॥

वकील उवाच ।

फूट बढ़ै सब घरन में हारे जीतै कोय ।
खुली अदालत नित रहे जन्म सुफल तब होय ॥१६॥

ज़मींदार उवाच ।

बरसे बिन बरसे कृषक जियैं मरैं चहु रोय ।
पोत बढ़ै काहू यतन जन्म सुफल तब होय ॥१७॥

पुलिस उवाच ।

झूठी सांची कैसिहू वारिदात में कोय ।
आय भलो मानुष फंसैं जन्म सुफल तब होय ॥१८॥

वैद्यराज उवाच ।

कहुं मारी कहुं जीर्ण ज्वर सन्निपात महं कोय ।
परै धनिक नित ही रहै जन्म सुफल तब होय ॥१६॥

भंड़सारि उवाच ।

इन्द्र देव किरपा करैं बूंद न बरसै तोय ।
पांच सेर गेहूं बिकै जन्म सुफल तब होय ॥२०॥

आलसी उवाच ।

सोवत सोवत एक दिन जाहिं भलीं बिधि सोय ।
हाथ हिलावन ना परै जन्म सुफल तब होय ॥२१॥

बकुला भक्त उवाच ।

माला कर महँ देखिकै आय फंसैं सब कोय ।
खुलैं न हमरे गुप्त ढंग जन्म सुफल तब होय ॥२२॥

श्री हरिश्चन्द्र उवाच ।

निज भाषा निज धर्म निज गौरव को सब कोय ।
दिन दूनी बढ़ती करैं जन्म सुफल तब होय ॥२३॥

सम्पादक समूह उवाच ।

कलह जवन देशन मचै सुधरैं हिन्दू लोय ।
नित हमार ग्राहक बढ़ैं जन्म सुफल तब होय ॥२४॥

ब्राह्मण उवाच ।

भारत हित भगवान हित सब जग के सुख खोय ।
प्रिय हिन्दू एका करैं जन्म सुफल तब होय ॥२५॥

———
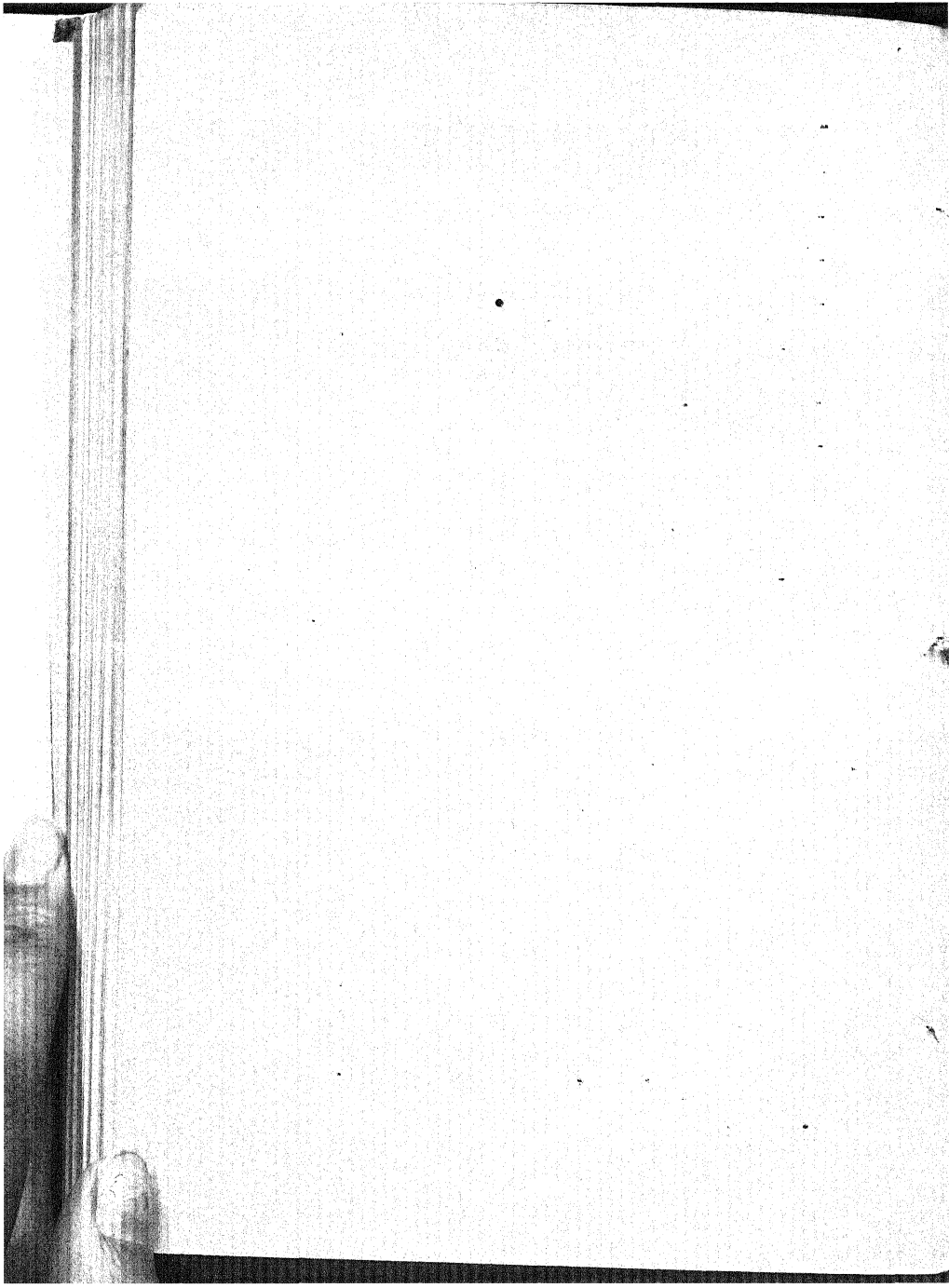
कविता (विभिन्न)
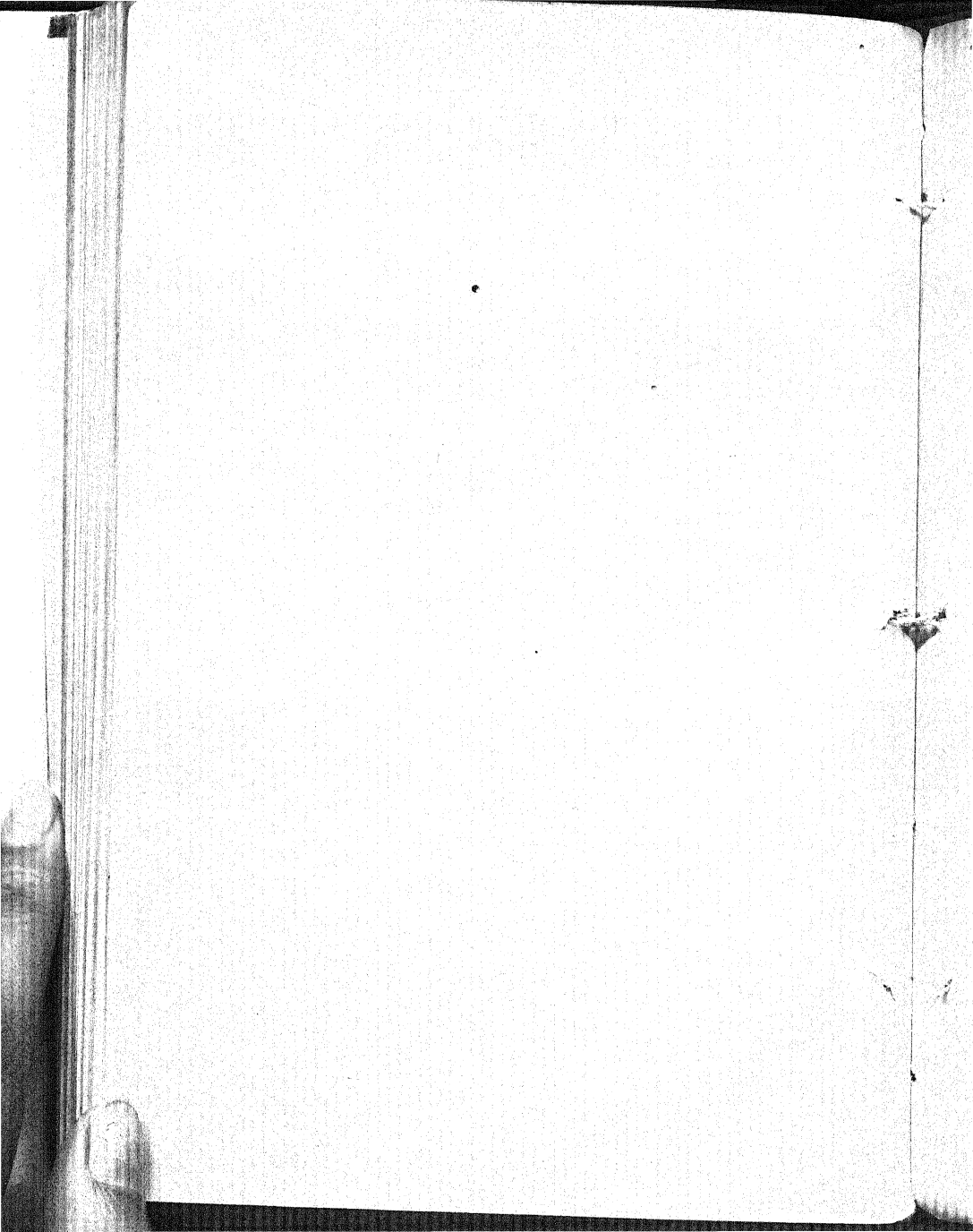
प्रेम सिद्धान्त।

जगत जाहि सबते बढ़ि सुन्दर अकथ अनूपम भाखै है ॥
अहंकार कुछ तासु प्यार कर चित्त हमारहु राखै है ॥१॥
फंसे न हम काहू के मत में नहिं कछु विधि निषेध मानैं ॥
है कोउ अपनी एकतासु हैं प्रेम दास हम यह जानैं ॥२॥
जदपि तोहि सपनेहु में कबहूं नैनन नहिं लखि पायो है ॥
पै हे प्राणनाथ! तुम्हरे हित मन ते ज्ञान गंवायो है ॥३॥
ना हम कबहुं धर्म निन्दक बनि नर्क अग्नि ते नेक हरैं ॥
ना कबहूं धर्म धर्म करि कै बैकुंठ मिलन के हेतु मरैं ॥४॥
प्राण लेइ प्यारी हम तबहूं रीति प्रीति ही की जानैं ॥
देहिं कहा दुख देखि उरहनो? सुख लखिकै गुन का मानैं ॥५॥
रावन सरिस और के आगे हमहुं न सीस नवावेंगे ॥
सब जग निन्दा भलेहि करौ हम अपनी टेक निभावेंगे ॥६॥
कब केहि देख्यौ ब्रह्म कबै निज मुख मूरति जगदीश बनी ॥
पूजत सब जग प्रेम देव कहं बादि अनारिन रारि ठनी ॥७॥
नृग से दाता गिरें कूप में ध्रुव से सिसु पद परम लहैं ॥
कोऊ का करि सकै? प्रेममय हरि केहि हित का करत अहैं ॥८॥
अकथ अनन्द प्रेम मदिरा को कैसे कोउ कहि पावै है ॥
महा मुदित मन होत कबहुं जो ध्यानहु याको आवै है ॥९॥

उर्दू अनुवाद

(यह कोई गीत नहीं है कि सब अंतरों में एक सा भाव होता। यह तो प्रेमियों के विनोदार्थ थोड़ी सी बातें फुटकर पद्य बद्ध कर दी गई हैं।)

इसका उर्दू में भावार्थ

जहां क़ायल है जिस शाहंशाहे ख़ूबा की वहिदत का ॥
हमारे दिल को भी दावा है कुछ उसकी मुहब्बत का ॥१॥
न क़ैदी हूं किसी मज़हब का न मैं पाबन्द मिल्लत का ॥
किसी अपने का कोई एक हूं बन्दा मुहब्बत का ॥२॥
अगर्चे ख्वाब में भी तुझको आखों ने नहीं देखा ॥
वले ऐ जानेजां! बोयम है तू ही दिल की वहिशत का ॥३॥
ना क़ाफ़िर हूं कि मुझको खौफ़ हो नारे जहन्नुम से ॥
न हूं दीदार जो हो मुझको लालच बाग़े जन्नत का ॥४॥
हमारी जान ले लेना तलक है प्यार से उसको ॥
कहां का शिकवए रंज और कैसा शुक्र राहत का ॥५॥
नहीं झुकने के पेशे ग़ैर हम भी सूरते शैतां ॥
पिन्हाए शौक़ से अहले मज़हब तीक लानत का ॥६॥
ख़ुदा को किसने देखा? कब कहां बुत ने अनल मअबूद (मैं ईश्वर हूं)।
परस्तार इश्क़ के सब हैं तअस्सुब है हिमाक़त का ॥७॥
कुएं में हों फ़रिश्ते क़ैद गुज़रैं अर्श से इन्सा ॥
समझता कौन है हिकमत ख़ुदा की भेद उल्फ़त का ॥८॥
बरहमन दिल में आती है अजब इकतई की मस्ती ॥

कभी जो ध्यान तक आता सहबाए मुहब्बत का ॥६॥

स्फुट सवैये और कवित्त ।

बाम बसैं नित पारबती तऊ जोगि सिरोमनि काम अराती ।
पान कियों अति तुच्छ हलाहल तौ हू आनन्द रहैं दिन राती ॥
भूत सखा घर घोर मसान तऊ शिवरूप सदा सब भांती ।
धन्य है प्रेम प्रभाव पवित्र बिचारत ही जिहि बुद्धि बिलाती ॥१॥
भावै अवासहि में दुरि बैठिबो वास में आनन ढांकि रहे हैं ।
बात चले परतापनरायन गात सबै थहरात महै हैं ॥
शोर करें सिसकी के घने निसिनाथ ते दूरि रह्यो ही चहै हैं ।
लोग सबै ऋतु शीत की भीति ते नारि नवोढ़ा की रीति गहै हैं ॥२॥
मारन मार लग्यों कुसुमायुध ज्यों जगते हैं उचाट उमाहत ।
बुद्धि रही थमि मेरो प्रताप तिहारे स्वरूप समुद्रहि थाहत ॥
बर्सि सुधा मृदु बोलन में मन कर्सि लियों कि बनै न सराहत ।
नेक हंसी में बसी करिकै तुम मोहिकै मोहि कहा कियो चाहत ॥३॥
कल पावैं न प्राण तुम्हैं बिन देखें इन्हें अधिकौ कलपाइए ना ।
परतापनरायन जू के निहोरे प्रीति प्रथा बिसराइए ना ॥
अहो प्यारे बिचारे दुखारेन पै इतनी निठुराई जताइए ना ।
करि एक ही गांव में बास हहा सुख देखिबे को तरसाइए ना ॥४॥
योंहूं हंसै हंसिहैं सब वोंहूं दुहूं बिधि सों उपहास तो ह्वैऐ ।
तौ परताप वियोग की ताप में क्यों फिर आपनो जीव जरैऐ ॥

होनी जु होय सुहोय भले खुल खेलिये और उपाव न पैऐ ।
यों मन होत रहै सजनी मन मोहनै लैकै कहूं कढ़ि जैऐ ॥५॥

मनहरण ।

कीन्हों कहा तरुन जो लूटि लीन्हों नाहक में
दीन्हों बन कोकिलन सहज पुकारे में ।
आगि सी लगाइ दई किंसुक गुलाबन में
भौरन को डार्यो वाही बरत अंगारे में ॥
परतापनारायन हू को ना करत डर
काम को जगाय दियो हृदय हमारे में ।
सबहिं सताय हाय लैकै ऋतुराज पापी
जैहै यमराजपुर आठ अठवारे में ॥६॥

शेर ।

जो हंसों देखा उसी का साफ़ नक़्शा बन गया ।
दिल है अपना या कोई आला है फ़ोटोग्राफ़ का ॥७॥
रूठो न बरहमन से वगरना कहेंगे सब ।
बुत कैसे ख़ुदा हैं कि पयम्बर नहीं रखते ॥८॥
की अर्ज़ दिल की दिल को ख़बर चाहिए तो वह ।
बोले मकाने दिल न हुआ तार घर हुआ ॥९॥
बरहमन ही को सताता है हमेशा हर तरह ।
वह शहे ख़ूबां चलन सीखा है आलमगीर के ॥१०॥

कानपुर-महिमा ।

भुम्याँ गैये कानपूर की, माता नाउं न जानौं त्वार ।
जग में महनामथ करिबे को, दुसरी बेला को अवतार ॥
तुम्हरी महिमा जग जानत है, अक्लि देउतन कै चकराय ।
बहिनी लागौ तुम कलिजुग की, सबके राखे चित्त डुलाय ॥
एकै जोजन पर कम्पू ते, परिअर बसै रिषिन को गाँव ।
सीता छोड़ी तहँ लछिमन ने, यह सब धरती को परभाउ ॥
सील ते देउता जहँ मुँह फेरैं, तहँ मनइन को कौन हवाल ।
तोताचसमी कानपूर की, है यह त्रेताजुग ते चाल ॥
और जुगन की बातैं छोड़ौ, अब कलजुग को सुनौ हवाल ।
राजा कनौजी कनउज वाले, उपजे हम हिन्दुन के काल ॥
नाश कराय दओ भारत को, सिगरो धरम मुसल्लन हाथ ।
हुआं की बातैं तौ हुअनै रहिं, अब आगे को सुनौ हवाल ॥
सन सत्तावन में गलबा भौ, भये सब हिन्द हाल बेहाल ।
बड़े लड़ैयन बालक काटे, जिन मुँह बहै दूध की धार ॥
धनि धनि भुम्यां कानपूर की, सत करमन की बिखम बलाय ।
सतजुग त्रेता ते चलि आये, जहँ सब कलिजुग के व्यौहार ॥
ऐसी धरती पै बसियत है, बेड़ा राम लगावै पार ॥

['कानपुर-माहात्म्य' से]

———

बुढ़ापा-वर्णन ।

हाय बुढ़ापा तोरे मारे
अब तो हम नकन्याय गयन ।
करत धरत कछु बनतै नाहीं
कहाँ जान औ कैसं करन ।
छिन भरि चटक छिनै मां मद्धिम
जस बुझात खन होय दिया ।
तैसै निखवख देखि परत हैं
हमरी अक्किल के लच्छन ॥१॥

अस कछु उतरि जाति है जीते
बाजी बेरियां बाजी बात ।
कैस्यो सुधि ही नाहीं आवति
मूंडइ काहे न दै मारन ।
कहा चहौ कुछु निकरत कुछु है
जीभ रांड़ का है यहु हालु ।
कोऊ याकौ बात न समुझै
चाहे बीसन दांय कहन ॥२॥

दाढ़ी नाक याक मां मिलिगै
बिन दांतन मुंह अस पोपलान ।
दढ़िही पर बहि बहि आवति है
कबौं तमाखू जो फांकन ।

बार पाकि गे रीरौ झुकि गै
मूंड़ौ सासुर हालन लाग।
हाथ पांव कुछु रहे न आपनि
केहिके आगे दुखु र्वावन ॥३॥
यही लकुठिया के बूते अब
जस तस डोलित डालित है।
जेहिका लै कै सब कामेन मा
सदा खखारत फिरत रहन।
जियत रहैं महराज सदा जो
हम ऐस्यन का पालति हैं।
नाहीं तो अब को धौ पूंछै
केहिके कौने काम के हन ॥४॥

सभा-वर्णन।

दिन के दिन सब कोउ जुरि आये, देखवैया औ कारगुजार ॥
कोऊ आये हैं बिरिया पर, कोउ कोउ पहरन समै बिताय ॥
लगी कचेहरी नुनि लाला की, भरमाभूत लगे दरबार ॥
रंग बिरंगे कपड़ा झलकैं, शोभा तिलक त्रिपुंडन क्यार ॥
गरे जँजीरैं हैं सोने की, मानौ बंधुवा कलियुग क्यार ॥
बाँह अनन्ता कोउ कोउ पहिरे, टड़ियाँ मनौ मेहरियन क्यार ॥

घड़ी अंगरखन मां कोउ खोंसे, टिहुना छड़ी धरे कोउ ज्वान ॥
भरि भरि चुटका सुंघनी सूंघैं, कोउ कोउ चर चर चावैं पान ॥
बड़े बड़े पंडित धरम सभा के, बड़े बड़े पूत महाजन क्यार ॥
बड़े बड़े चेला दयानन्द के, जिन घर वेदन के अधिकार ॥
आइके बैठे जेहि छन सगरे, औ सब करैं लाग सल्लाह ॥
मैं तुम तन तुम मोहिं तन चितवैं, ना मुहँ खुलै न सूझै राह ॥
कुरसी के संग कुरसी रगरैं, टेबिलैं रगरि रगरि रह जाँय ॥
बड़े बड़े जोधा तंह बैठे हैं, टिहुना धरे नगिन तरवारि ॥
बिछे गलीचा ई मजलिस मा, खोपरी पाउँइ धरत बिलाय ॥
फट फट फट कोउ बोतल खोले, कट कट कट कोउ हाड़ चबाय ॥
खाये अफीमन के कोउ गोटा, आंखी उघरैं औ रहि जाय ॥
ददकैं चिलमैं रे गांजन की, मानौ बनमां लागि दवारि ॥
तबला ठनकै लखनौहन को, बँगला में होय परिन का नाचु ॥
मटकै मुन्शी उइ मँगचिरवा, मेहरि मन्सु परै ना जानि ॥
कपड़ा पहिरे चुतरकटा उइ, नकलैं करै कलेजिहा भांड़ ॥*

लावनियाँ ।

दीदारी दुनियादारी सब नाहक़ का उलझेड़ा है ।
सिवा इश्क़ के, जहां जो कुछ है निरा बखेड़ा है ॥

---

*यह परिडत प्रतापनारायण की वर्णन-सजीवता का अच्छा नमूना है ।

दुनिया क्या शै है ? क्यों है ? क्या इसका अव्वल औ आखिर है ?
बाद मौत के कहां जाना है, क्या होना फिर है ?
इन बातों का ठीक हाल नहिं हुआ किसी को ज़ाहिर है ।
झूठी बकबक मचाता हर मोमिन औ क़ाफ़िर है ।।
इन झगड़ों को कहिये तो ? कब, किसने, कहां निबेड़ा है ।।१।।

✿ ✿ ✿ ✿ ✿

निज प्रेममयी मदिरा से मुझे छकाओ ।
अपनी शोभा पर मेरा चित्त लुभाओ ।।
सब विषय वासना की तुच्छता दिखाओ ।
मैं मैं मेरा मुझसे छुड़वाओ ।।
अपने प्रताप को सब प्रकार अपनाओ ।
मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ ।।२।।

✿ ✿ ✿ ✿ ✿

रसहू अनरस में एक सरिस रस राखै ।
सोइ सरस हृदय बस प्रेम-सुधा-रस चाखै ।।
चितते बिसरावै चिन्ता दुहु लोकन की ।
सब शंक तजै निज जीवन और मरन की ।।
समुझै इकही सी प्रीति बैर जगजन की ।
मन भावन मैं सब करै भावना मन की ।।
भोरे भावन हू और न कछु अभिलाखै ।।३।।

['मन की लहर' से]

———

समस्या पूर्ति ।

(पपिहा जब पूंछिहै पीव कहाँ)

बन बैठी है मान की मूरति सी
मुख खोलति बोलै न नाहि न हाँ ।
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे
सखियान की कौन चलाई कहाँ ।
बरखा है प्रताप जू धीर धरो
अब लों मन को समुझायो जहाँ ।
वह ब्यारि तबै बदलैगी कछू
पपिहा जब पूंछिहै पीव कहाँ ॥१॥

(बीर बली धुरवा घमकावैं)

बूड़ि मरैं न समुद्र में हाय
ये नाहक हाथ निछीछे डुबावैं ।
का तजि लाजि गराज किये
मुख कारो लिये इत ही उत धावैं ।
नारि दुखारिन पै बज मारे
वृथा बुंदियान के बान चलावैं ।
बीर हैं तौ बल बीरहि जाय कै
बीर बली धुरवा घमकावैं ॥२॥

(बजनी घुंघुरू रजनी उजियारी)

आसव छाकि खुली छति पै

खुलि खेलति जोवन की मतवारी ।
गात ही गात अदा ही अदा
कढ़ै बात ही बात सुधा सुखकारी ।
रंग रचै रस राग अलापि
नचै परताप गरे भुज डारी ।
ताछिन छावै अजीब मजा
बजनी घुघुरू रजनी उजियारी ॥३॥

(देह धरे को यहै फल भाई)

नैनन में बसै सांवरो रूप
रहै मुख नाम सदा सुखदाई ।
त्यों श्रुति में ब्रज केलिकथा
परिपूरण प्रेम प्रताप बड़ाई ।
कोऊ कछू कहै होय कहूँ कछु
पै जिय में परवाहि न लाई ।
नेह निभै नंदनन्दन सों नर-
देह धरे को यहै फल भाई ॥४॥

(धुरवान की धावन सावन में)

सिर चोटी गुंधावती फूलन सों
मेहंदी रचि हाथन पावन में ।
परताप त्यों चूनरी सूही सजी
मन मोहती हावन भावन में ।
निस द्यौस बितावती पीतम के संग

झूलन में औ झुलावन में।
उनहीं को सुहावनो लागत है
धुरवान की धावन सावन में ॥५॥

तृप्यन्ताम् ।

'तृप्यन्ताम्' शीर्षक कविता के थोड़े से अंश यहां दिये जाते हैं। इस कविता में भारत की आर्थिक तथा सामाजिक दुर्दशा का हृदय-ग्राही चित्र खींचा गया है। देवताओं से प्रार्थना की गई है कि ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में जब अपना पेट पालना मुश्किल हो रहा है तो उन्हें सन्तुष्ट करना मुश्किल है।

(आदर के लिए एकबचन के स्थान पर भी बहुबचन का प्रयोग होता है। अतः छंद बदलना निष्प्रयोजनीय समझा है।)

(१)

केहि बिधि वैदिक कर्म होत कब कहाँ बखानत रिक यजु साम ।
हम सपने हू में नहिं जानैं रहैं पेट के बने गुलाम ॥
तुमहिं लजावत जगत जनम धरि दुहु लोकन में निपट निकाम ।
कहैं कौन मुख लाय हाय फिर ब्रह्मा बाबा तृप्यन्ताम ॥

(२)

तुमहिं रमापति वेद बतावत हम कहं दारिद गनै गुलाम ।
तुम बैकुंठ बिहारी हौ प्रभु हम सब करैं नरक के काम ॥
तुम कहं प्यारी लगै भक्ति, हम कहं स्वारथ प्रिय आठौ याम ।

अहौ विष्णु भगवान, बताओ केहि गुन कहिए तृप्यन्ताम ॥

(३)

रहे रुवाय देत रिपु कुल कहं जब हम कठिन ठानि संग्राम ।
तब तरपन ह्वं सोहत हो अरु भारत वीर विदित हो नाम ॥
अब तौ छुरी छुवत डर लागै राज नियम बस बनि गये बाम (स्त्री) ।
केहि विधि कहैं निलज ह्वै हा हा रुद्र देवता तृप्यन्ताम ॥

(४)

खोय धर्म, धन, बल, बुद्धि, विद्या, नेम, प्रेम आदिक गुण ग्राम ।
पाप पखंड अविद्या आलस औगुन के बनि रहे गुलाम ॥
यह गति देखहु निज बंशिन की सब विधि बोरि रहे तब नाम ।
हृदय होय तौ होहु सबै ऋषि आंसुन के जल तृप्यन्ताम ॥

(५)

गये विदेश भागि भारत ते राग रागिनी सुर लय ग्राम ।
गिने जात अब इहाँ सबै गुन कलावंत कथिकन के काम ॥
लोग मृगहु से तुच्छ बसैं बहु नाद ब्रह्म सों विमुख निकाम ।
होहु जाय सरस्वति बीणा सुनि हे गन्धर्व गन तृप्यन्ताम ॥

(६)

तव विद्या गुन कला कुशलता लन्दन माहिं करें विश्राम ।
जिन सों हमरै पितर लहत हे लोक लाभ पर लोक अराम ॥
हम तौ यहौ न जानैं तुम्हरो कैसो चरित कहा है नाम ।
क्यों बिन काज कहैं झूठे बनि आचारज कुल तृप्यन्ताम ॥

(७)

लक्ष्मी तुम्हरे पार गई किमि कीजै पूजा को इतमाम ।
अब यह देश डुबोय देहु बसि हम वर मांगैं करि परनाम ॥
निधन (मृत्यु) उचित है निरधन को न तु कौन आस व्याकुल नर वाम ।
अंजलि जल दै कै हे सागर तुम सों कहि हैं तृप्यन्ताम ॥

(८)

उदय उछाह मरीचि करैं नहिं उर पुर तम मय रहत मुदाम ।
मरी चिरैया सरिस परै हम धरे चोंच पद पच्छ निकाम ॥
हमरी चित्त वृत्ति कहं ऐसी होंहिं जु तब रुचिकर परिणाम ।
ह्वै हौ कहा हमारो हाथन हे मरीचि मुनि तृप्यन्ताम ॥

(९)

इन हाथन सों देहिं कहा जल जे सेवहिं पर चरन मुदाम ।
रहत विश्व पदत्रान दलित नित तेहि शिर सों किमि करैं प्रणाम ॥
जौन जीह निशि दिन सूखति है बकत खुशामद कपट कलाम ।
यासो कैसे कहैं हहा हम अहो पितामह तृप्यन्ताम ॥

(१०)

रावन रहे तिहारो नाती शिव पद रत धन बल बुधि धाम ।
उनके गुन एकौ नहिं हममें हां औगुन हैं भरे तमाम ॥
द्विज कहाय लाजहि बिहाय नित करहिं राकसन के से काम ।
जो यहि नाते रीझि सकौ तो पुलस्ति बाबा तृप्यन्ताम ॥

(११)

पढ़ैं पढ़ावै सोई भाषा जामें चले पेट को काम ।

करैं यजन याजन उनही को जिनते मिलै नाम औ दाम ॥
देहिं धर्म धन लाज सबैं बिधि लेहिं देश को शाप सुदाम ।
अहो कौन कृत देखि हमारो ह्वै हौ कृतु मुनि तृप्यन्ताम ॥

(१२)

तुम सागर में करो तपस्या बहु वर्षन सुमिरे सियराम ।
हम आंसुन में डूबि कुकृति बस अंतस ताप तपै बसु जाम ॥
तव मुख अग्नि कढ़ी हमरेहु मुख पर डर जारन कढ़ै कलाम ।
ऐसेहु सह धर्मिन सो ह्वौ है कस न प्रचेता तृप्यन्ताम ॥

(१३)

देवहुती कहं सांख्य योग तुम उपदेश्यो सद गति को धाम ।
हम मातहिं इंग्लिश पढ़ि सिखवैं वेद गप्प मिथ्या हैं राम ॥
केवल जाति वर्ग के डर सों जल उलचैं लै लै तव नाम ।
मन को भावन पूछि सकौ तौ कपिल देव जू तृप्यन्ताम ॥

(१४)

शिरते पग लगि कारे कपरे शुद्ध आसुरी भेष तमाम ।
भाषा औरौ मधुर आसुरी किट पिट गिट पिट ओ यू ड्याम ॥
भोजन अधिक आसुरी जिनमें बूझि न परै हलाल हराम ।
ऐसे असुरनतो हिन्दुन सों होहु न आसुरी तृप्यन्ताम ॥

(१५)

मृत भाषा समुझें संस्कृत कहं वेदन गनैं असभ्य कलाम ।
फिर का जानै किमि मानैं हम विधि निषेध कलि कुतसित काम ॥
निजता निज भाषा निज धर्महि देहिं तिलोदक आठौ जाम ।

तुमहूं पुरुष पुरुष बोढ़ू मुनि वाही नाते तृप्यन्ताम ॥

(१६)

पांच पीर की पांच चुटैया हमरे सिर पर लसैं ललाम।
तिन कहं गहे रहैं निशि वासर लोभ मोह मद मतसर काम ॥
अद्भुत पंच शिखा हैं हमहूं करन हेत पुरिखन बदनाम।
अपनों स्वांग समुझि कै हम कहं पंचशिखा मुनि तृप्यन्ताम ॥

(१७)

जन्म दान लालन पालन लहि हम रोवत बिन दाम गुलाम।
पै हमरो विवाह हो तुम हित अनरथ मूल कलह को धाम ॥
बसि अब बात बात पर खीझौ लरौ मरौ शिर धुनौ मुदाम।
बचन वज्र संघारि वहूं संग जननि देवि भव तृप्यन्ताम ॥

(१८)

विद्या बिना अभ्यसित तुम कह निज कुल रीति नीति गृह काम।
हम पढ़ि मरें तहूं बसि जानैं उदर भरन बनि विश्व गुलाम ॥
मरेहु पूजिबे जोग अहौ तुम हम जिय तहु निन्दित सब ठाम।
फिर किन गुनन कहैं केहि मुख सों दादी देवी तृप्यन्ताम ॥

(१९)

जानै बिन छल छंद जगत के तुम सुख जीवन लह्यौ मुदाम।
हम हैं कोटि कपट पटु तौ हूँ दुर्गति में दिन भरैं तमाम ॥
मरेहु खाहु तुम खीर खांड हम जियहिं क्षुधा कृश निपट निकाम।
कौन भांति कहि सकै अहे प्यारी परदादी तृप्यन्ताम ॥

(२०)

धर्म ग्रंथ अनुसार अहो तुम पूजनीय परतिष्ठा धाम।
पै अब कलि प्रभाव गारी सम समभ्यो जात तिहारो नाम॥
ताहू पर तव घर पलि कै हम भये अशिष्ट विदित सब ठाम।
याते डरत डरत कहियत हैं एहो नाना तृप्यन्ताम॥

(२१)

अवसर परे लुटाय दियो घर बिन स्वारथ खोई न छदाम।
धन बल धरम मान मरजादा उलँघि कियो नहिं एकौ काम॥
याते तव कर थित सुख जीवन मरन अनन्तर अचल अराम।
होत कहा जु कहैं हम नाहिंहु परमातामह तृप्यन्ताम॥

(२२)

भोजन भाषा भेष भाव जे तुम कहं भावत रहे मुदाम।
तिन सबते प्रतिकूल सबै विधि हम व्यवहरत रहैं बसु जाम॥
याते तुम्हरी तुष्टि करन महं कहं समरथ हम सम अघ धाम।
वृद्ध प्रमातामह भव केवल स्वधा शब्द सुनि तृप्यन्ताम॥

(२३)

हमरे जनम समय तुम मन महं मान्यों अति अनन्द अभिराम।
पै किशोरपन के लच्छन लखि रह्यौ न ह्वैहै वाको नाम॥
अब तौ औरहु नष्ट भ्रष्ट ह्वै भोगहिं हम निज कृति परिणाम।
कौन आसरो हमते ह्वैहौ हे मातामहि तृप्यन्ताम॥

(२४)

तुम जब रहीं रह्यौ तब सतयुग सुखित सुछंद साधु नर वाम।

पुजत रहे सब पितर पुरोहित गंगा तुलसी सालिकराम ॥
पै अब सुख सुचाल सरधा दलि कलि महिमा पूरति सब ठाम ।
हमते करहु न आस कहन की परनानी जी तृप्यन्ताम ॥

(२५)

जानें हम न रहे तुम कैसे किए कौन भल अनभल काम ।
मरत जियत तव दशा रही किमि दुख सुख कहा दिखाओ राम ॥
फिर केहि विधि सरधा सनेह जुत अंजलि देहिं लेहिं का नाम ।
इतर जन्म के बन्धुवर्ग हां लोक रीति बस तृप्यन्ताम ॥

(२६)

सुर ऋषि पितरन हूँ कहं तरपन मन न रह्यौ थिर पाव छदाम ।
कबहूं परधन हरन बिचार्यो कबहूं तकी पराई बाम ॥
तुह कहं तरपहिं केहि सरधा सों जिन कर जानहिं नाम न काम ।
भूले बिसरे नात गोत गन बचन मात्र सों तृप्यन्ताम ॥

(२७)

देश जाति उद्धार जतन महं जो तव कुटुम गयो सुरधाम ।
तौ सुपवित्र रामनामी सों छन्यो गंग जल लेहु ललाम ॥
और जु निज दुर विसन विवस ह्वै पितृ वंश कर दियो तमाम ।
तौ यह मलिन अंगौछा निचुरत लुप्त पिंड गन तृप्यन्ताम ॥

(२८)

हा दुरदैव आज निज पापन नहिं पेटहु की तृपति हमार ।
किन सो कहा लाय किमि पालैं छोटे सिसु अरु कृशतनु बाम ॥
वे दिन कबहुं फेरि फिरैंगे ? कहं धौं गये हाय रे राम ।

जब हम कहत रहे निज बूते सकल सृष्टि सों तृप्यन्ताम ॥

(२९)

पितर देवता सबते बढ़िकै माननीय तव पद अभिराम ।
कुपथ सुपथ के भेद बताए तुमहीं हमैं चिन्हाए राम ॥
तुमते उरिन न ह्वै हैं जो हम वारि देहिं सब तन धन धाम ।
सरल सनेह निहारि हमारी हूजै गुरुवर तृप्यन्ताम ॥

(३०)

जगहितैषिता धर्मनिष्ठता विपुलवीरता के करि काम ।
सुत उपजाए बिना लह्यौ तुम न्यायनि लगत पितामह नाम ॥
हरि निज प्रण तजि तव प्रण राख्यो भाख्यो जिन्हैं श्रुतिन सति धाम ।
श्रद्धा सरित सलिल सों हमरेहु गंग तनय जू तृप्यन्ताम ॥

(३१)

सदा सकल जग भ्रमत रहत हौ करत प्रकाश ठाम ही ठाम ।
सांची कही कहूं देख्यो है देश हिन्द सम अचरज धाम ॥
निज भाषा हू ते निराश लहि बसहिं लोग हतभाग तमाम ।
होहु भानु भगवान देखि यह अद्भुत कौतुक तृप्यन्ताम ॥

(३२)

देख तुम्हारे फ़रज़न्दों का तौरो-तरीक़ तुमाश्रो कलाम ।
ख़िदमत कैसे करूँ तुम्हारी अक़्ल नहीं कुछ करती काम ॥
आबे राङ्ग नज़र गुज़रानूं या कि मये-गुलगूं का जाम ।
मुंशी चितरगुपत साहब तसलीम कहूँ या तृप्यन्ताम ॥

हरि शशि बतसर छह असित, आसिन मास ललाम ।

जगहित मिश्र प्रताप मुख, निकस्यो तृप्यन्ताम ॥

लीजिये तर्पण समाप्त होगया। जिन पाठकों का जी महीनों से बार बार तृप्यन्ताम २ वांचते २ ऊब उठा हो उन्हें प्रसन्न होना चाहिए कि यह राम रसरा समाप्त हो गया और जिन्हें ब्राह्मण का जीवन न रुचता हो वे भी पांच महीने और राम राम करके काट दें, फिर देख लेंगे कि हर महीने ऊट पटांग लेख और हर साल सोलह आने का तक़ाज़ा समाप्त हो गया। क्योंकि जब हम सात वर्ष से देख रहे हैं कि सहायता के नाते बाजे बाजे बड़े बड़े लखपतियों से असली दाम भी नहीं मिलते जो कुछ सहारा देते हैं वह केवल मुख से। जिनसे कुछ आसरा करो वे और कुछ लेके रहते हैं जो सचमुच सहायक हैं वे गिनती में दस भी नहीं। इसी से कई एक उत्तमोत्तम पत्र बन्द होगये कई एक आज हैं तो कल नहीं, कल हैं तो परसों नहीं। कई एक ज्यों त्यों चले जाते हैं तो केवल चलाने वाले के माथे। पर अपने राम में अब सामर्थ्य नहीं रही। बरसों से झेलते झेलते हिम्मत हार गई। फिर क्या भरोसा करें कि इस वर्ष के अन्त में यह न सुनने में आवैगा कि कानपुर का एक मात्र हिन्दी पत्र अपने ढंग का एक मात्र ब्राह्मण पत्र समाप्त होगया।

लोकोक्तियाँ।

भजहु प्रेम मय देवता तजहु शंक समुदाय।
"एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय" ॥

चारि वेद कर सार यह सुनि राखहु सब कोय ।
'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़ै सो पण्डित होय' ॥
व्यापक ब्रह्म सदा सब ठौर, बादि चारि धामन की दौर ।
कस न देखु मन नयन उघारि, 'कनियाँ लरिका गाँव गुहारि' ॥
प्रभु करुनाकर शांति निकेत, तिहि तजि पूजत भूत परेत ।
कस सुख पावै असि मति जासु, 'दही के धोखे खाय कपासु' ॥
पढ़ि कमाय कीन्हों कहा हरे न देश कलेश ।
'जैसे कन्ता घर रहे तैसे रहे विदेश' ॥
काम निकासिय साम दाम भय भेद ते ।
सब सँग इक से रहत लहत नर खेद ते ॥
पर रुख लखि चलिबो चतुरन की बात है ।
'आंधर बैल भँवाय के जोता जात है' ॥
भाय २ आपस में लरैं, परदेसिन के पायन परैं ।
दहै द्वेष भारत शशि राहु, 'घर का भेदिया लंका दाहु' ॥
अपनो काम आपने ही हाथन भल होई ।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई ॥
धन धरती निज हरी सु करिहैं कौन भलाई ।
'जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई' ॥
जिन आरम्भ शूरता कीन्हीं, विघन परत हिम्मति तजि दीन्हीं ।
बिरथा श्रम कर अपजस लहिंगे, 'निबुआ नोन चाटिकै रहिगे' ॥
श्रमी साहसी दृढ़ बरियार, ताहि सहज जग पर अधिकार ।
झूठ न कहैं बात जग ऐसी, 'जिहि कै लाठी तिहि कै भैंसी' ॥

मुख में चारि वेद की बातैं, मन पर धन पर तिय की घातैं।
धनि बकुला भक्तन की करनी, 'हाथ सुमिरनी बगल कतरनी' ॥

छोड़ि नागरी सुगुन आगरी उर्दू के रँग राते।
देसी बस्तु विहाय विदेसिन सो सर्वस्व ठगाते ॥
मूरख हिन्दू कस न लहैं दुख जिनकर यह ढंग दीठा।
'घर की खांड़ खुरखुरी लागै चोरी का गुड़ मीठा' ॥

तन मन सों उद्योग न करहीं, बाबू बनिबे के हित मरहीं।
परदेसिन सेवत अनुरागे, 'सब फल खाय धतूरन लागे' ॥
राखहु सदा सरल बरताव, पै समझहु सब टेढ़हु भाव।
नतरु कुटिल जन निज गति छाटैं, 'सूधे का मुह कुत्ता चाटैं' ॥

समय को अपने जो सतसंग में बिताता है।
हरेक बात में वह दक्ष हो ही जाता है ॥
किसी को क्या कोई शिक्षा सदैव देता है।
'चौतरा आपही कुतवाली सिखा लेता है' ॥

('लोकोक्ति-शतक' से)

हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।

चहहु जो सांचहु निज कल्याण। तौ सब मिलि भारत सन्तान ॥
जपहु निरन्तर एक ज़बान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥१॥
रीझै अथवा खिझै जहान। मान होय चाहै अपमान।
पै न तजौ रटिबे की बान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥२॥

भाषा भोजन भेष-बिधान। तजै न अपनो सोइ मतिमान।
बस समझौ सौभाग्य प्रमान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥३॥
धनि है वह धन धनि वे प्रान। जो इन हेतु होंय क़ुरबान।
यही तीन सुख सुगति निधान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥४॥
तिह्नं लोक पर पूज्य प्रधान। करिहैं तव त्रिदेव इव त्रान।
सुमिरहु तीनहु समय सुजान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥५॥
सरबसु जाय दीजिये जान। सब कछु सहिये बनि पाखान।
पै गहि रहिय प्रेम प्रन ठान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥६॥
तबहिं सुधरिहै जनम निदान। तबहिं भलो करिहैं भगवान।
जब रहिहै निसदिन यह ध्यान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥७॥
जिन्हैं नहीं निजता को ज्ञान। वे जन जीवत मृतक समान।
याते गहु यह मंत्र महान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥८॥

जब लगि तजि सब शंक सकुच अरु आस पराई।
नहिं करिहौ निज हाथन आपनी भलाई ॥
अपनी भाषा भेष भाव भोजन भाइन कहँ।
जब लगि जग ते उत्तम नहिं आनि हौ तुम जिय महँ ॥
तब लग उपाय कोटिन क़रत अगनित जनम बितायहौ।
पै सांचो सुख सम्पति सुजस सपनेहु नहिं लखि पायहौ ॥९॥

प्रार्थना १

शरणागत पाल कृपाल प्रभो !
हमको इक आस तुम्हारी है ।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ
नहिं दीनन को हितकारी है ॥
सुधि लेत सदा सब जीवन की
अति ही करुना बिस्तारी है ।
प्रतिपाल करैं बिनही बदले
अस कौन पिता महतारी है ॥
जब नाथ दया करि देखत हौ
छुटि जात बिथा संसारी है ।
बिसराय तुम्हें सुख चाहत जो
अस कौन नदान अनारी है ॥
परवाहि तिन्हें नहिं स्वर्गहु की
जिनको तव कीरति प्यारी है ।
धनि है धनि है सुखदायक जो
तव प्रेम सुधा अधिकारी है ॥
सब भाँति समर्थ सहायक हौ
तव आश्रित बुद्धि हमारी है ।
"परताप नरायण" तौ तुम्हरे
पद पंकज पै बलिहारी है ॥

प्रार्थना २

पितु मात सहायक स्वामि सखा
तुमही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नहीं
तिनके तुमही रखवारे हो॥
सब भाँति सदा सुखदायक हो
दुख दुर्गुन नासनहारे हो।
प्रतिपाल करौ सगरे जग को
अतिसै करुना उर धारे हो॥
भुलिहैं हमही तुम को तुम तौ
हमरी सुधि नाहिं बिसारे हो।
उपकारन को कछु अंत नहीं
छिन ही छिन जो बिस्तारे हो॥
महराज महा महिमा तुम्हरी
समुझैं बिरले बुधिवारे हो।
शुभ शांतिनिकेतन प्रेमनिधे!
मन मंदिर के उजियारे हो॥
यहि जीवन के तुम जीवन हो
इन प्रानन के तुम प्यारे हो।
तुम सों प्रभु पाय "प्रताप हरी"
किहि के अब और सहारे हो॥

भजन १

साधो मनुवाँ अजब दिवाना ।
माया मोह जनम के ठगिया तिनके रूप भुलाना ॥
छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि माना ।
फिकिर तहाँ की तनिक नहीं है अंत समय जहँ जाना ॥
मुखते धरम धरम गोहरावत करम करत मनमाना ।
जो साहब घट घट की जानै तेहि तैं करत बहाना ॥
तेहि ते पूछत मारग घर को आपहि जौन भुलाना ।
'हियाँ कहाँ सज्जन कर वासा' हाय न इतनौ जाना ॥
यहि मनुवाँ के पीछे चलि के सुख का कहाँ ठिकाना ।
जो "परताप" सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना ॥

भजन २

जागो भाई जागो रात अब थोरी ।
काल चोर नहिं करन चहत है जीवन धन को चोरी ॥
औसर चूके फिर पछितैहो हाथ मींजि सिर फोरी ।
काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी ॥
जो कुछ बीती बीत चुकी सो चिंता ते मुख मोरी ।
आगे जामे बनै सो कीजै करि तन मन इक ठौरी ॥
कोऊ काहू को नहिं साथी मात पिता सुत गोरी ।
अपने करम आपने संगी और भावना भोरी ॥
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी ।
नाहिं तु फिर "परताप हरी" कोउ बात न पूछहि तोरी ॥